योग सिद्धान्तों और शिक्षाओं का प्रतिपादक मासिक

सिद्धयोग

संस्थापक : योग योगेश्वर अनन्तश्री ब्रजमोहन जी महाराज

वर्ष : 29 जुलाई 1996 अंक : 4

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन, सवांई, आगरा

संस्थापक :
योग-योगेश्वर अनन्त श्री
चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :
आचार्य ब्र० दायलाल शर्मा

संयुक्त सम्पादक :
श्री भुवनेन्द्र झा

प्रबन्ध सम्पादक :
श्री चन्द्रशेखर 'दिव्य'

आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा

श्री गोविन्द सोनी

ब्र० राजेश चन्द्र शर्मा

जुलाई १९९६

इस अंक में पढ़िए

❀ न हृयन्ते हृयमाने शरीरे १

❀ योगियों का कोर्स (विशेष लेख) २
—योग-योगेश्वर श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

❀ प्राण-शक्ति ६
—श्री स्वामी विपुलानन्द जी महाराज

❀ गुरु-पूर्णिमा ७
—आचार्य ब्र० श्री दायलाल शर्मा

❀ श्री गुरुगीता और श्री गुरुदेव १०
—श्री ब्र० ओमप्रकाश पालीवाल

❀ गुरु-शिष्य एकात्मत्व १६
—श्रीमति कविता शर्मा

❀ मानसिक रोगों की चिकित्सा में—योग का योगदान १८
—डा० ऋषिराज वाशिष्ठ, पी-एच० डी० (आयुर्वेद)

❀ जैसा ख्याल वैसा हाल २१
—श्री विष्णुप्रसाद व्यास

❀ हृदयं चेतना-स्थानम् २४
—आचार्य श्री चन्द्रकान्त दुबे, एम० ए०,
व्याकरण, सांख्ययोग, दर्शनाचार्य

❀ मुक्ति की इच्छा वालों को माया-जाल से
परे रहना चाहिये—श्री नारायण दत्त शास्त्री ३०

❀ गिरिराज गोवर्धन की उत्पत्ति तथा व्रजमण्डल
में आगमन —श्री सुरेश पौलस्त्य ३३

❀ देव और असुर ३५
—श्री लालचन्द्र जी

❀ गीता का सार-भूत श्लोक ३८
—श्री रामचरण 'महेन्द्र'

❀ आश्रम-समाचार ४०

वार्षिक मूल्य ६० रु० । द्विवार्षिक मूल्य ११० रु० ।
इस अङ्क का मूल्य ६ रु० ।

श्री रामलाल प्रभवे नमः सद्गुरु परब्रह्मणे नमः

सूचना

बड़े हर्ष के साथ सूचित किया जाता है कि इस बार गुरु-पूर्णिमा का पावन पर्व, परम श्रद्धेय सद्गुरुदेव श्री चन्द्रमोहन जी महाराज की कृपा से ३० जुलाई १९९६ दिन मंगलवार को योग-प्रचार मण्डल, ग्वालियर (म० प्र०) के तत्वाधान में बड़ी धूमधाम से मनाया जा रहा है।

अतः समस्त गुरुभाई-बहिनों से करबद्ध निवेदन है कि गुरु-पूर्णिमा कार्यक्रम में अधिक से अधिक गुरुभाई-बहिन अपने इष्टमित्रों एवम् परिवार जनों के साथ श्री सद्गुरुदेव जी के पावन पर्व में सम्मिलित होकर पुण्य लाभ लें एवम् अपने जीवन को कृतार्थ करें।

निवेदक :

संचालक—योग-प्रचार मण्डल

ग्वालियर (०म प्र०)

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाँई (एत्मादपुर) आगरा

वर्ष २९ अङ्क ४	त्यागं त्याज्यं यदिह परमं ब्रह्म शुद्धं स्वभावम्, मर्त्यो मृत्योर्मुखं विचरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः । तत्प्राकट्यान् बहुविधदं योगशास्त्रोपदेशात्, कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोगः' ॥	जौलाई १९९६

न हन्यते हन्यमाने शरीरे

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायंभूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

(गीता)

अर्थात्

'यह जीव-आत्मा न कभी उत्पन्न होती है और न कभी मरती है। और न कभी होकर होने वाली होती है। यह अजायमान, नित्य, शाश्वत और पुरातन है। शरीर के मारे जाने पर भी यह नहीं मरती।'

शरीर के उत्पन्न होने पर यह अज्ञानवश अपने को पैदा हुआ समझती है और शरीर के नष्ट होने पर यह अपने को मरी हुई सोचती है। वास्तव में आत्मा न उत्पन्न होती है और न मरती है।

विशेष लेख :—

योगियों का कोर्स

योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

(गताङ्क से आगे)

विचारानुगत योग

विचारानुगत योग में मनुष्य अपने इष्टदेव के स्वरूप को मनुष्य लोक की अपेक्षा बहुत अधिक सुन्दर एवं आभामान देखने लगता है। वह यह समझता है कि मेरे ध्यान ध्येयावलम्ब मेरे इष्टदेव अब उत्तरोत्तर बहुत ही दिव्य छटा वाले परम रमणीक एवम् सुन्दर बनते जा रहे हैं। इस द्वितीय श्रेणी के अन्दर योगी अपने इष्टदेव को देवाकृति में देखने लगता है। जब उसका यह अभ्यास परिपक्व हो जाता है उस समय उसके सामने स्वतः ही देवलोक के दृश्य आने लगते हैं। वह योगी अपने इष्टदेव को बहुत ही सुन्दर दिव्याकृति में देखता है। ऐसी स्थिति में उसके सामने देवलोक के रमणीक दृश्य आने लगते हैं। कभी वह देखता है, उसके सामने किसी देवोद्यान नन्दनवन आदि के दृश्य आ रहे हैं। कभी-कभी देवलोक के और रमणीक दृश्य या देवलोक सुन्दरियाँ नृत्य करती हुई सामने आती हैं। तरह-तरह की वाणियाँ सुनाई देती हैं। अब तक यह साधक योगी 'मनुष्यः देवानाम पशुः' की शक्ति के अनुसार देवताओं के अधीन रहने वाला सेवक के मानिन्द साधारण प्राणी था किन्तु गुरुदेव की परम अनुकम्पा एवम् ईश्वरानुग्रह को पाकर अब यह योगी बन गया और बड़े दिव्यात्माओं का भी पूज्य हो गया। ये एक स्थिति इस प्रकार की है जिसमें से भाग्यवान गुरुदेव का लाड़ला कोई वीर धीर संयमी पुरुष ही आगे को निकल पाता है, अन्यथा दैनिक प्रलोभनों में आकरके अपने आपको पुनः अनिष्टों में डाल लेता है। इस स्थिति में गये साधकों के लिए भगवान पतञ्जलि देव का आदेश है कि—

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मया करणं पुनरनिष्ट प्रसङ्गात् ।

अर्थात् जिस समय योगी के सामने देवलोक के दृश्य आयें और देवता उसका प्रेमपूर्वक आह्वान करें उस समय योगी को बिल्कुल सतर्क हो जाना चाहिये क्योंकि देवलोक के रमणीक दृश्यों में फँस करके इसका दुबारा अनिष्ट न हो जाए। इसलिए भगवान पतञ्जलि देव ने यह आदेश दिया कि जिस समय योगी को चाहिये वह देवलोक के प्रलोभनों को न देखे और देखने पर भी यदि उसने अपने आपको कण्ट्रोल कर लिया है तो उस हालत में यदि योगी के मन में यह अभिमान पैदा हो जाता है कि अब मैं देवताओं का भी पूज्य हो गया हूँ। इसलिये मेरी इन पर हुकूमत है और मुझे इनकी बात नहीं माननी चाहिये। ऐसा अभिमान करने से योगी को काल भय रहता है और देवताओं की बात मान

करके वह वासनीय भोगों में प्रवृत्त होता है तो प्रवृत्ति बढ़ जाने से फिर उसी खन्दक में पड़ जाता है जहाँ से वह बड़ी मुश्किल से निकल पाता था। महापुरुषों के चरणों में इस प्रकार की कई घटना घटती रहा करती हैं। इसके उदाहरण स्वरूप मैं एक यथार्थ घटना लिख देना चाहता हूँ जिसको पढ़कर हर व्यक्ति सावधान हो जाए और वह इनके प्रलोभनों से बचा करके अपने आप का अभ्युदय करता रहे।

राधेश्याम नागा (उपनाम रमणिगिरि नागा)

हमारे आश्रम योग-प्रशिक्षण केन्द्र श्री सिद्ध गुफा, सवाई (आगरा) में अकस्मात् घूमता-घामता एक नवयुवक नागा साधु आया और उसने आश्रम की नियमावली को स्वीकार करके योगाभ्यास आरम्भ किया। श्री प्रभुजी के परम अनुग्रह को पाकर उसने अपना बहुत जल्दी अभ्युत्थान किया और थोड़े ही समय के अन्दर योग की द्वितीय श्रेणी वितर्कानुगत में वह प्रवेश कर गया। उसके ध्यान में भगवान शिव के लीलास्थल एवम् अन्य सत्पुरुषों की अनुभूतियाँ हुआ करती थीं। शनैः शनैः अभ्यास से यह स्थिति आती गई कि वहाँ देवलोक के सुन्दर दृश्य देखने आरम्भ कर दिए। वह कभी देवेन्द्र लोक में जाकर उनके रमणीक उद्यान और लीला स्थलों को देखता। कभी देवांगनाओं की नृत्य कलाओं को देखता और कभी-कभी दिव्य रसायनों का अनुभव किया करता था। शनैः शनैः वहाँ की नृत्य कलाओं को देखने का अभ्यासी हो गया। शनैः शनैः उसका स्वर्गीय उपभोगों में आकर्षण बढ़ गया और देव सुन्दरियाँ उसका मान करने लगीं। उसने एक बहुत सुन्दर कन्या को देखा जिसको देखकर उसका मन उसकी ओर आकर्षित हो गया। ऐसी स्थिति होने पर देवताओं ने उसको परामर्श दिया कि ये देवकन्या तुम्हारे लिए बहुत दिन से तप कर रही है। अब यह सोचती थी कि कब तुम मनुष्य लोक को छोड़कर इस दिव्यलोक में आकर रहोगे सो अभी तक इस प्रकार का कोई संयोग नहीं हो पाया। अब तुम अपने गुरुदेव की परम अनुकम्पा को पाकर तुम्हारा परम पुण्य बढ़ गया है और इस लोक में आ गये हो। इससे अच्छा तुम्हारे लिए और कोई स्थान नहीं है। गुरुदेव के चरणारविन्द में जाकर के तुमने प्राप्त करने योग्य वस्तु को पा लिया है। इसलिए अब इधर-उधर भटकने की आवश्यकता नहीं, तुम्हारे गुरुदेव तुम्हें यहाँ आने से रोकते होंगे इसलिए तुम आज ही आश्रम छोड़कर कुसुम सरोवर पर जा करके तप करो, उसके फलस्वरूप तुम इसी दिव्य-लोक में आ जाओगे या ये देवकन्या ही वहाँ प्रगट होकर वहीं पुष्प मालायें पहनावेगी। परिणामस्वरूप वह उत्तम साधक उन प्रलोभनों में आकर आश्रम से चला गया। देवलोक का अतिथि तो वह नहीं बन पाया किन्तु अन्यान्य सम्पर्कों से उसका पतन अवश्य हो गया और अपनी उच्चतम स्थिति से पुनः साधारण मनुष्य-लोक का साधारण मनुष्य ही रह गया। इसलिये भगवान पतञ्जलि देव ने आदेश दिया—

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मया करणं पुनरनिष्ट प्रसङ्गात् ।

ये सम्प्रज्ञात योग की दूसरी श्रेणी है जिसमें योगी के सामने देवलोक के दिव्य दृश्य सामने रहा करते हैं और प्रबल प्रलोभन उसके सामने आया करते हैं। किन्तु श्री गुरुदेव का परम कृपापात्र इन सब विघ्न-बाधाओं से बचकर अपने उच्चतम लक्ष्य की प्राप्ति

करने के लिए कदम बढ़ाता चला जाता है और शनैः शनैः अपने परम लक्ष्य को अवश्य पा लेता है। इससे आगे सम्प्रज्ञात योग की तृतीय श्रेणी आनन्दानुगत योग आता है।

आनन्दानुगत योग

इस समाधि में बुद्धि मे परम पवित्र धर्म प्रगट होते हैं। सत्व शुद्धि होकर मनुष्य विवेक ख्याति की ओर बढ़ता है, उसके रोग, शोक नष्ट हो जाते हैं। चित्त प्रेम ज्ञान धर्म और दया का पूर्ण उदय हो जाता है। योगी अपने आपको सर्वथा आनन्दरूप में देखने लगता है। अब उसका लक्ष्य अखण्ड मण्डलाकार व्यापक तेज रह जाता है। जिस इष्टदेव का अभी तक चिन्तन किया था उसको अनुप्रमाणुओं में ओत-प्रोत देखने लगता है, यह परम सुख है। इसको पाकर के योगी और कुछ भी पाने की इच्छा नहीं रखता—जगदात्मा भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में इस प्रकार वर्णन किया है—

> **सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।**
> **वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥**
> **यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।**
> **यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥**

(गीता अ० ६ श्लोक २१-२२)

अर्थात्, ये आन्तरिक सुख हैं और केवल मात्र बुद्धिग्राही हैं, अतीन्द्रिय हैं। इस स्थिति में जाकर मनुष्य पतन से परे हो जाता है और वह विचलित नहीं होता। ये ऐसा सुख है जिसको पाकर योगी और कुछ पाना नहीं चाहता और बड़े भारी दुःख से भी विचलित नहीं होता, हमेशा आनन्द मग्न रहा करता है। तृतीय स्थिति को पाकर योग वाह्य स्थिति में उन्मत्तों की तरह से इधर से उधर घूमा करता है। यहां अपने आप ही मुक्तता होने लगती है और इस समाधि में समाधिस्थ होकर योगी प्राणी मात्र के अन्दर अपने आपको और प्राणी मात्र को अपने अन्दर देखने लगता है। जगदात्मा भगवान् कृष्ण ने स्वयं अपने मुखारविन्द से स्पष्ट कहा है—

> **सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।**
> **ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥**
> **यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।**
> **तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥**

(गीता अ० ६ श्लोक २९-३०)

अर्थात्, जो प्राणी मात्र में अपने आपको देखता है और अपने अन्दर प्राणी मात्र को देखता है वह युक्तात्मा है, वह कभी भी मुझसे दूर नहीं होता। दूसरे शब्दों में जो मुझको सर्वत्र देखता है और सबको मेरे अन्दर देखता उसके लिये मैं कभी नष्ट नहीं होता। इस बुद्धिग्राही सुख को पाकर के योगी अपने आपको कृतार्थ बना लेता है। इससे आगे चौथी श्रेणी है जिसमें वृत्ति निर्वाणोन्मुखी हो जाती है। इस समाधि का नाम अस्मितानुगत योग है।

अस्मितानुगत योग

अस्मितानुगत समाधि वह कहलाती है जिसमें योगी ब्रह्माण्ड भर के कुल दृश्यों को देखकर शान्त हो जाता है। वृत्ति केवल मात्र एक शेष रह जाती है जिसको निर्वाणोन्मुखी वृत्ति कहा करते हैं। उस स्थिति के योगी की स्थिति भजन करती है अस्मि, अस्मि-अस्मि अहमेवा अस्मि अर्थात् मैं हूँ, मैं हूँ, मैं हूँ, जो सब कुछ मैं हूँ। इस समाधि में योगी को दो विशेष प्रकार की शक्तियाँ उपलब्ध होती हैं, पहली शक्ति उसकी बुद्धि, ऋतम्भरा बन जाती है। भगवान् पतञ्जलि देव कहते हैं

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा

तस्मिन् समाहित चित्तस्य या प्रज्ञा जायते
तस्या ऋतम्भरा इति संज्ञा भवति,
अन्वर्था च सा सत्यमेव बिभर्ति, न तत्र
विपर्या सगन्धोऽप्य स्तीति तथाचोक्तम् ॥

अर्थात्, इस समाधि में जो योगी की बुद्धि पैदा होती है वह अन्वर्था अर्थात् सत्य को धारण करने वाली ही होती है। योगी जो कुछ सोचता है वह सत्य सोचता है। जो हरकत होती है वह सत्य होती है। उसके मन में जो भी संकल्प आयेगा वह वही होगा जो हो रहा होगा। यदि योगी यह विचार करता है कि उस देश में इस समय वर्षा हो रही है तो वह हो ही रही है। तभी उसके मन में यह संकल्प बनेगा अन्यथा नहीं बनेगा। ये ऋतम्भरा प्रज्ञा और सभी प्रकार के संस्कारों को रोक देती है, केवल अपने ही संस्कार इसमें शेष रहते हैं और संस्कार निर्वाणोन्मुखी वृत्ति के ही होते हैं। इस स्थिति में जाकर के योगी सत्य संकल्प हो जाता है। वह जो कुछ सोचता है वह होने लगता है, यह भी एक प्रकार की सिद्धि है। इसको संकल्प सिद्धि कहते हैं। दूसरी शक्ति इस समाधि के (चित्त निर्माण की) योगी को स्वभाव से ही हो जाती है। भगवान् पतञ्जलि कहते हैं—

"निर्माणचित्तान्यस्मितामात्राद्"

अस्मिता मात्र चित्त कारणमुपादाय निर्माण
चित्तानि करोति ततस्सचित्तानि भवन्ति।

अर्थात्, इस समाधि में अपना चित्त निर्माण करके योगी हजारों जगह एक साथ जा सकता है। वह जितने चित्त बनायेगा वह सभी के सभी उसके आधीन होंगे। ये संप्रज्ञात योग की चार श्रेणियाँ हैं जिसको पतञ्जलि देव ने स्वीकार किया है, इस प्रकार से यह योगियों का कोर्स है। संप्रज्ञात योगियों के लिए अभ्यास क्रम का उत्तमोत्तम साधन है। जिस क्रम से योगी चलता है तो वह अवश्य ही असंप्रज्ञात योग को प्राप्त हो जाता है। इसी साधन क्रम को हमारे अन्यान्य आचार्यों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से कहकर सर्वसाधारण के लिये सुलभ बना दिया है।

प्राण-शक्ति

श्री स्वामी विभूतिमन्द जी सरस्वती

प्राणशक्ति, मनःशक्ति, क्रियाशक्ति, भावनाशक्ति और बुद्धिशक्ति—ये पाँच शक्तियाँ हैं और उन्हीं के अनुक्रम से पाँच ही योग हैं—हठयोग, ध्यानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग। इनमें प्राणशक्ति और मनःशक्ति, ये दोनों अत्यन्त प्रबल हैं। इन दो शक्तियों को जो वश में कर लेता है, वह संसार-विजयी होता है।

प्राणशक्ति और साधन—

प्राणशक्ति को वश में करने वाला साधक इस पृथ्वी पर रहने वाले प्राणियों और आकाश में उड़ने वाले पक्षियों को वशीभूत कर सकता है और नक्षत्र-मण्डल की वार्ता भी जान सकता है। प्राण के आधार पर ही यह अखिल ब्रह्माण्ड स्थित है। यही प्राण सबको वायुरूप से प्रतीत हो रहा है। अथर्ववेद के ग्यारहवें काण्ड में इस प्राण का वर्णन है—

प्राणो विराट् प्राणो देष्ट्री प्राणं सर्व उपासते।
प्राणो ह सूर्यश्चन्द्रमाः प्राणमाहुः प्रजापतिम्॥

प्राण विराट है, सबका प्रेरक है, इसलिये सब उसकी उपासना करते हैं। प्राण ही सूर्य और चन्द्रमा है, प्राण को ही प्रजापति कहते हैं।

प्राणशक्ति के कारण ही हमारे शरीर की नसों एवं नाड़ियों में रक्त का प्रवाह चल रहा है, उसी प्रकार प्राणशक्ति के बल पर ही सूर्यादि लोक घूम रहे हैं। अन्न, वनस्पति आदि सूर्य की प्राणशक्ति से ही उत्पन्न होते हैं। प्राण ही तेज है। इस पाञ्चभौतिक शरीर को प्राण जब छोड़ देता है, तब यह शरीर निस्तेज होकर और नष्ट हो जाता है। प्राणियों का प्राण ही ईश्वर है।

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठम्॥

(अथर्व० कां० ११)

उस प्राण को मेरा नमस्कार है, जिसके अधीन यह सारा जगत् है, जो सबका ईश्वर है, जिसमें यह सारा जगत् प्रतिष्ठित है।

प्राण परमेश्वर की एक शक्ति है। इसका साधन गुरु-मुख से ही जानकर करना चाहिये। मूलाधार चक्र से साधन आरम्भ किया जाता है। बायें पैर की एड़ी से गुदा द्वार को बन्द करके मूलबन्ध लगाया जाता है और जननेन्द्रिय के मूल को दोनों एड़ियों से दबाकर कुण्डलिनी को जगाया जाता है

गुरु-पूर्णिमा

श्री आचार्य ब्र० रामलाल शर्मा

कितने मनमोहक हैं ये दोनों शब्द ? तात्त्विक दृष्टि से देखा जाये तो ये दोनों एकार्थक हैं। गुरु-पूर्णिमा जन सामान्य में व्यास पूजा के नाम से भी प्रख्यात है। व्यास शब्द का अर्थ सामान्यतया लोग कथा-प्रवचन तथा उपदेश करने वाले कथावाचक के रूप में लेते हैं किन्तु व्यास शब्द का अर्थ संस्कृत में विशाल है इसके विपरीत संक्षेप को समास कहा जाता है। गुरु शब्द गृ शब्दे (क्र्यादिगण) तथा गृ-निगरणे इन दो धातुओं से व्युत्पन्न होता है। गृणाति उपदिशति धर्म-मिति गुरुः जो योग धर्म का उपदेश करे वह गुरु है। अथवा गिरत्यज्ञानमिति गुरुः जो अज्ञान को निगल जाता है वह गुरु है। यद्वा गीर्यते स्तूयते देवगन्धर्वादिभिरिति गुरुः। अथवा देव गन्धर्वादि जिनकी स्तुति करते हैं वह गुरु है।

जो गुरु है वही पूर्ण है। गुरु वह है जो गरिमामय है जिनमें गुरुत्वाकर्षण है जीवों को अपनी ओर खींच लेते हैं। जो सबसे बड़ा है, सर्व समर्थ है, व्यापक है अनन्त है। पूर्णत्व गुरुत्व में ही है। उस पूर्ण सत्ता को ही शास्त्रों की भाषा में ब्रह्म कहते हैं अर्थात् जो सर्वत्र व्याप्त है "सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः" (गीता) जो सबको अपने में समेट लेता है इसलिये वह सर्वरूप है। उसे सर्वगतः भी कहा जाता है सर्वगत होने से ब्रह्म पूर्ण है। उपनिषद् में मन्त्र आता है—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

अर्थात्, वह ब्रह्म पूर्ण है। यह जगत भी उससे व्याप्त होने के कारण पूर्ण कहा जाता है। पूर्ण में से पूर्ण निकाल देने पर भी पूर्ण ही शेष रहता है।

यहाँ पर पूर्ण शब्द ब्रह्म की अभिव्यक्ति के लिये ही व्यवहृत हुआ है। श्रुति में "रसो वै सः" कहकर ब्रह्म को रसरूप माना है। रसों का मूल स्रोत चन्द्रमा है। पूर्ण चन्द्रमा में अमृत बनता है। वह अमृत ही रसरूप ब्रह्म है। गुरु में भी अमृतत्व है। शिष्य को अमृत अमर बना देने की सामर्थ्य गुरुदेव में ही होती है अन्य किसी में नहीं। गुरु पूर्ण समर्थ होता है चेतना का महास्रोत होता है।

भगवान का अवतरण समय-समय पर इस संसार में होता चला आ रहा है। जब वे मानवाकृति में आते हैं तब वे अपने सदुपदेश से, अपने दिव्य संस्पर्श से, लोकोत्तर चरित्र से जीव के कल्याण के लिये कृत-संकल्प रहते हैं। इस रूप में भगवान का ऐसा मिलन जीव ब्रह्म का आध्यात्मिक एवं भौतिक उभय मिलन होता है। उस समय वे गुरु शिष्य के रूप में ही होते हैं। उस क्षण जीव उस परम गुरु अपने इष्ट को पाकर यह भूल जाता है कि वह जन्मने मरने वाला जीव है। वह इष्ट के रूप में तदाकार हुआ

आनन्द के महास्रोत में निमग्न हो जाता है। यह उस सर्वात्मन के चिन्मय सान्निध्य का परिणाम होता है। रामावतार के समय सेतुबन्ध के अवसर पर बहुत ही हृदयस्पर्शी दृश्य देखने को मिलता है। सहस्रों ऋषि, मुनि, देवात्मायें वानर, भालू का शरीर ग्रहण कर अपने परम इष्ट भगवान राम के परम हित की साधने में जुट जाते हैं। समुद्र से निकल-निकलकर कछुये आदि जलीय जीव भी इस महाभियान में जुट जाते हैं। इन सब जीवों का भगवान से मिलन का यह अपूर्व संयोग था। कितनी तन्मयता, उल्लास एवम् आनन्द के साथ वे सब अपने देह की सुधबुध खोकर अद्भुत क्षमता से कार्य किये जा रहे थे। उन्हें ऐसा लग रहा था मानो जीवन का परम धन मिल गया हो इसीलिए ही इसमें आनन्दित होकर रमण कर रहे थे, उस समय ऐसा लगता था मानो कि भगवान ने अपनी सारी ईश्वरीय शक्ति उन जीवों में उड़ेल दी हो। उन मुक्तात्माओं को जो आनन्द मिल रहा था वह अवर्णनीय था।

इसी प्रकार की स्थिति कृष्णावतार में बनी। गोवर्धन धारण के समय ब्रज की सब गोप-गोपियां भगवान के साथ यज्ञ कार्य में संलग्न हो गये। उन्हें अपने जीवन सर्वस्व के इस कार्य को सम्पादन करते हुए दिव्य आनन्द का अनुभव हो रहा था। भगवान ने भी बदले में उन सभी को अपना अनुग्रह भाजन बनाते हुए अमृत एवम् आनन्द का भण्डार खोल दिया जिसे पाकर जीव अपने स्वरूप को खोकर भगवान के चिन्मय स्वरूप में एकाकार हो जाता है। उन जीवों का प्राण भगवान के उस समष्टि प्राण में समायुक्त हो जाता है। यही कारण था कि गोपियां मुरली की एक ही आवाज पर 'बलादिव नियोजिता' की तरह बलपूर्वक खिंची चली जाती थीं जहाँ परम प्रेमास्पद भगवान विराजमान होते थे। वे उस समय अपना घर-परिवार, बालक, पति सभी को भूल जाती थीं। जिस मन और बुद्धि को भगवान के सगुण स्वरूप में समाहित करने की बात भगवान गीता में अर्जुन से कहते हैं उसी मन-बुद्धि का विलय सहज ही भगवान स्वयं अपने में करा देते हैं जिससे जीव जीवत्व से रहित हो जाता है। उस परम भाग्यशाली जीव को भगवान जीवब्रह्मैक्य का बोध करा देते हैं, यही भगवान के अवतरण का रहस्य एवम् उद्देश्य है। भगवान के इसी गुरुत्व के आकर्षण के कारण ही वे जगद्गुरु कहलाते हैं। जीवों के इस प्रकार से परम गुरु से मिलन सहसा संभावित नहीं होता। जन्म-जन्मान्तर की उस आराधना से मिलने की चाह तथा तद्भावनाभावित होकर उस जन्म के दृढ़ संस्कार-सम्बन्ध के स्थापित होने पर यह बात सम्भव हो जाती है। अन्यथा परात्पर शक्ति के पृथ्वी पर आविर्भाव होने पर भी उनके निकट सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति भी अपने कर्मों की मलिनता से भगवान के निन्दक ही बन कर जीवन बिता देते हैं।

इस युग में भी बहुत से महा-भाग्यवान पुरुषों ने उन परमदेव का श्री सद्गुरुदेव चन्द्रमोहन जी महाराज के रूप में दर्शन एवम् पावन सान्निध्य का परम लाभ प्राप्त किया है।

उनके पावन चरण-तल में बैठने पर ही जीव की समस्त कामनायें व वासनायें विलुप्त हो जाया करती थीं। परम शान्ति एवम् आनन्द का साम्राज्य छा जाता था। प्राण स्वतः ही निश्चल हो जाता था। सभी उपस्थित शिष्य समुदाय का जिनके गुरुदेव ही एकमात्र परा-यण एवम् जीवन के सूत्रधार हैं यह देखकर "मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव" यह वचन मानस पटल पर घूमने लगता था। आश्रम का जब कोई सामूहिक कार्य करना होता था तो प्रायः गुरुदेवजी स्वयं वहाँ विराजमान रहा करते थे। सेवा कार्य करते हुए उन शिष्यों के अदम्य उत्साह, उल्लास को देखकर सहज में ही प्रभु के पूर्व-पूर्व अवतारों के समय की की जाने वाली लीलाओं का स्मरण हो जाता था। गुरुदेव अपनी प्रसन्नता के व आशीर्वाद के माध्यम से शिष्यों में दिव्य शक्ति का संचार करते रहते थे। सर्वसमर्थ गुरुदेव अपने शिष्यों को अध्यात्म सम्पदा व परम धन देना चाहते हैं जिसे वे सेवा आदि कराकर उसी बहाने से दे दिया करते हैं। उस सम्पदा को पाकर जन्म-जन्म का भिखारी जीव धन्य हो जाता है और अनिर्वचनीय आनन्द के सागर में स्नान करने लगता है। गुरुदेव भी अपने शिष्य के मन और बुद्धि को अकल्मष बनाकर अपने में समाहित कर लेते हैं अन्यथा जीव की सामर्थ्य ही क्या है कि वह वाङ्मानस अगोचर उस परम चेतन में अपने को विलीन कर दे। गुरुदेव शिष्य को सगुण देहधारी बनकर अपने चिन्मय शरीर का ध्यान कराते हुये उसे निर्गुण तक पहुँचाते हैं। शिष्य जिस क्षण सद्गुरु से दीक्षित हो जाता है उसी क्षण से उसके जीवन का शुक्ल पक्ष प्रारम्भ हो जाता है। गुरुदेव मन्त्र स्वरूप होकर शिष्य के अध्यात्म शरीर में अनुप्रविष्ट हो जाते हैं। तत्पश्चात् शिष्य को अपने नित्य चैतन्य स्वरूप का बोध कराने में कृत संकल्प रहते हैं।

शास्त्रों का लेख है 'गुरु पूजा विहीना-नाम्' तथा गुरु सन्तोषहीनानाम् न सिद्धि-स्यात् कदाचन्। अर्थात् जो गुरुदेव की पूजा नहीं करते तथा गुरुदेव की प्रसन्नता को प्राप्त नहीं करते उन्हें मोक्ष रूपी सिद्धि कदापि नहीं मिलती। गुरुदेव और ईश्वर में अभेद दृष्टि रखकर पूजा करने का शास्त्रों का आदेश है। किन्तु हर शिष्य व साधक इस अभेद दृष्टि को पा जाये यह कठिन है। पूर्वाजित साधना के पुण्य से अथवा गुरुदेव अपनी व्यापक आत्म सत्ता का बोध करा दें तभी यह अभेद बुद्धि उपजती है। गुरु और ईश्वर में भेद दृष्टि रखना भी पाप ही है। इसकी निवृत्ति गुरुदेव में श्रद्धा से, सेवा से एवम् गुरुदेव की अनुकम्पा से होती है। वस्तुतः आत्म स्वरूप को प्राप्त कर लेना ही गुरु-पूजा है। गुरुदेव भगवान कहा करते थे कि जो हमारे आदेश के अनुसार जाप व ध्यान करता है वही हमारा प्रिय है तथा सच्चे अर्थों में उपासक है।

श्री गुरुगीता और श्री गुरुदेव

❀ श्री ब्र० ओमप्रकाश पालीवाल (लखनऊ)

श्री गुरु गीता त्रिभुवन गुरु भगवान सदाशिव और जगत जननी श्री पार्वती देवी के संवाद से प्रगट हुई समग्र स्कन्ध पुराण का सारभूत निष्कर्ष है। इसके अधिकांश श्लोक स्कन्धपुराण से लिये गये हैं। तथा कुछ श्लोक अन्य शास्त्रों से उद्धृत किये हैं। श्री गुरुगीता परम गुरु शिव और शिष्य रूप में देवी पार्वती का अनूठा संवाद है। भगवान सदाशिव गुरुगीता रूपी इस ज्ञानामृत का पान कराने के लिए वक्ता हैं तथा पार्वती जिज्ञासस्वरूप श्रोता हैं।

कैलाश पर्वत के रमणीक शिखर पर बैठे भगवान शंकर से श्री पार्वती जी ने अपने तथा दूसरे जीवों के कल्याण एवम् मुक्ति का मार्ग जानने की इच्छा से श्री शिव से पूछा। हे देव! यह जीव किस उपाय से ब्रह्मस्वरूप हो जाता है कृपा करके यह मुझे बतलाइये। इस सर्व मंगलकारी, कल्याणकारी प्रश्न को सुनकर शिव जो स्वयं कल्याण के मूर्तमान रूप हैं अत्यन्त प्रसन्न होकर बोले, हे देवि! श्रुति और वेदान्त वाक्यों में यह 'गुरु' शब्द दो अक्षर वाला मन्त्र राज है। इस गुरुगीता का एक-एक अक्षर मन्त्र राज है। परम गुरु शिव ने स्वयं अपने मुखारविन्द से गुरुगीता और गुरु की महिमा को अनन्त, अगम और अगोचर बताया है। संसार में अनेक गीतायें हैं। जैसे—श्रीमद्भगवद्गीता, शिव गीता, अवधूत गीता, उद्धव गीता, कपिल गीता, गर्भगीता, अनुगीता एवम् अष्टावक्र महागीता आदि हैं। वैसे तो प्रायः इन सभी गीताओं में गुरु और शिष्य का ही संवाद देखने को मिलता है। श्रीमद्भगवद्गीता जगत गुरु योगेश्वर श्रीकृष्ण तथा शिष्य रूप में अर्जुन ही का तो संवाद है। इसी प्रकार अष्टावक्र महागीता भी अष्टावक्र गुरु और शिष्य रूप में राजा जनक का संवाद है। अनादि गुरु सदाशिव ने इस सृष्टि के प्रारम्भ काल में सर्वप्रथम श्री पार्वती जी को गुरु दीक्षा प्रदान करके इस गुरु शिष्य की पावन परम्परा का शुभारम्भ किया था। इस गीता का नाम इसीलिए मुख्य रूप से गुरुगीता रखा। इसी कारण से गुरुगीता का स्थान सर्वोपरि माना गया है। गुरुगीता केवल श्रय देव रूप एकमात्र गुरु की उपासना, गुरु की भक्ति तथा गुरु शरणागत की ही बात करती है। क्योंकि श्री गुरुदेव सभी देवों के मूल में हैं। वैसे तो सभी गीताओं का मुख्य उद्देश्य जीवों के मोहावरण अविद्या, अज्ञान को दूरकर आत्मा-परमात्मा के अभेद ज्ञान को देना ही है। गुरुगीता में स्पष्ट रूप से गुरु और परमब्रह्म परमात्मा में अभेद सम्बन्ध बताया गया है। यह गुरु और परमात्मा एक ही तत्व के दो नाम है। श्री गुरुगीता का मुख्य उद्देश्य है कि यह जीवात्मा किसी सद्गुरु की शरण में जाकर उनसे दीक्षा सम्बन्ध बनाकर मोक्ष को प्राप्त हो। यह श्री गुरुगीता साक्षात् परब्रह्म, परमगुरु कल्याणकारी भगवान शिव के मुखारविन्द से प्रगट हुई वाणी है। इसकी

महिमा का यथार्थ वर्णन तो शिव के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं कर सकता। गुरुतत्त्व को प्रकाशित करने वाली तथा मनुष्यों के अन्दर गुरु भक्ति को प्रकट करने वाली यह अनुपम पुस्तक है। गुरुगीता में सत्स्वरूप गुरुओं के गुरु परम गुरु शिव ने जो कुछ कहा है वह सब अक्षरशः सत्य है। सत्य है और फिर सत्य है। सत्य के अतिरिक्त इसमें कुछ भी नहीं कहा गया है। सत्स्वरूप कल्याणकारी शिव की वाणी में असत्य का भला क्या काम है। अतः गुरुगीता में बताई हुयी बातों को असत्य मानना, उन पर पूर्ण विश्वास न करके शङ्का-सन्देह करना तथा तर्क-कुतर्क करना तो महापाप ही कहा जायगा।

सद्गुरु की महिमा अनन्त है। जिसे स्वयं आशुतोष भगवान शिव ने भी गुरु की महिमा को अगम अगोचर बताया है। वस्तुतः यह गुरुतत्व ही कल्याणकारी है। यही मंगलकारी है। यही हितकारी एवं शुभकारी भी है। यह मेरा (शिव) शासन है, आदेश और आज्ञा है। मेरा आदेश, शासन, आज्ञा गुरु के द्वारा ही चलता है। भगवान शिव स्वयं कहते हैं जो अनन्य भाव से मेरा (शिव स्वरूप गुरु का) यत्नपूर्वक ध्यान, चिन्तन करता है उसके लिए परम पद सुलभ है। इसलिए प्रयत्नपूर्वक गुरु की आराधना करो, गुरु की आज्ञा का पालन करो तथा अपने जीवन को गुरु को अर्पण करके गुरु में लय हो जाओ, क्योंकि गुरु के अतिरिक्त कोई दूसरा ब्रह्म नहीं है, गुरु के बिना मुक्ति नहीं है, यह सत्य है। गुरुभक्ति से मेरा (शिव) बोध होता है। गुरुदेव से श्रेष्ठ त्रिभुवन में कुछ भी नहीं है। मेरी इस गुरुगीता के समान कोई धर्मशास्त्र नहीं है। इससे श्रेष्ठ भी कुछ नहीं है। समस्त पूजाओं का मूल श्री गुरुदेव के चरण हैं। मन्त्र का मूल श्री गुरुदेव के वाक्य हैं तथा मोक्ष का मूल श्री गुरुदेव की कृपा है। आज्ञा चक्र में श्री गुरुदेव का ध्यान करने से यह जीव ब्रह्ममय हो जाता है। यह गुरु शब्द ही अपने में महा महिमामय शब्द है। 'गु' और 'रु' इन दो शब्दों के मेल से यह गुरु शब्द बना है। 'गु' का अर्थ अन्धकार है और 'रु' का अर्थ उस अन्धकार का निरोधक प्रकाश है। जैसे रात्रि के अन्धकार का निरोधक सूर्य है। उसी प्रकार जीव के अज्ञान अन्धकार से आच्छादित अन्तःकरण को प्रकाशित करने वाला यह गुरु रूपी सूर्य ही है। इस तरह इस गुरु शब्द में अन्धकार और प्रकाश दोनों तत्व निहित हैं। गुरु का अव्यक्त स्वरूप ही परब्रह्म है। और उस परब्रह्म का सूक्ष्मतम रूप शब्द ब्रह्म है। वस्तुतः यह शब्द ब्रह्म ही गुरुतत्व है। 'गुरु' नाम का दो अक्षर वाला यह मन्त्र एक ही महामन्त्र एवम् मन्त्र राज है। गुरु और शिव एक ही तत्व के दो नाम हैं। सिक्ख धर्म में वाहे गुरु वाहे गुरु के उच्चारण से इसी गुरु शब्द का कीर्तन किया जाता है।

मानसकार ने भवानी और शंकर जी की स्तुति करते हुए कहा है—

वन्दौ भवानी शंकरी,
श्रद्धा विश्वास रूपिणी।
याभ्यां विना न पश्यन्ति
सिद्धा स्वान्तः स्थमीश्वरम्॥

अर्थात्, श्रद्धा विश्वास के स्वरूप श्री पार्वती जी की मैं वन्दना करता हूँ। जिनके बिना सिद्धजन अपने अन्तःकरण में स्थित ईश्वर को नहीं देख सकते। शिव जो गुरु रूप हैं,

उनका स्वरूप विश्वासमय है और श्री पार्वती जी गुरुगीता में शिष्य रूप हैं, उनका स्वरूप श्रद्धामय है। इस प्रकार गुरुदेव का स्वरूप विश्वासमय है और शिष्य का स्वरूप श्रद्धामय है। जिस प्रकार विश्वासरूप शिव श्रद्धारूप भवानी का गुरु-शिष्य का सम्बन्ध है, ठीक वैसा ही उसी प्रकार गुरु और शिष्य का पावन सम्बन्ध है। धर्म की स्थिरता के लिए श्रद्धा (भवानी) और शिव (विश्वास) दोनों का साथ-साथ वृषभ रूप धर्म पर आरूढ़ होना आवश्यक है। जब श्रद्धा रूप भवानी अकेली बिना शिव (विश्वास) के वृषभ रूप धर्म पर आरूढ़ होती है तब बिना विश्वास (शिव) के धर्म टिकता नहीं। कहा भी है—"श्रद्धा बिना धर्म नहि होई।" दूसरी ओर इसी प्रकार जब केवल शिव (विश्वास) बिना श्रद्धा के धर्म रूप वृषभ पर अकेले आरूढ़ होते हैं, तब भी बिना श्रद्धा के धर्म नहीं टिकता है। धर्म की स्थिरता के लिये दोनों का एक साथ होना नितान्त आवश्यक है। श्रद्धा और विश्वास इन दोनों के बिना भगवान शिव के दर्शन नहीं होते हैं। पूर्ण श्रद्धा व पूर्ण विश्वास के साथ की हुई साधना व पूजा-पाठ ही फलवती होता है। अपने आप में पूर्ण विश्वास और कार्य में श्रद्धा यह दोनों मिलकर ही सफलता देते हैं। श्रद्धा सिद्धि का दाता है। हर क्षेत्र में सफलता की कुञ्जी श्रद्धा और विश्वास ही है। शिष्य अपने गुरु में श्रद्धा और विश्वास करके ही वह एक दिन गुरु हो जाता है, भक्त भगवान में श्रद्धा करके स्वयं भगवान हो जाता है। रामायण में कहा भी है—"कवनेऊँ सिद्धि कि बिन विश्वासा" और भी कहा है—"बिन विश्वास भगति नहि, तेहि बिन द्रवहि न राम।" सद्गुरुदेव ही भगवान और शास्त्रों पर उनकी महिमा को बताकर विश्वास को दिलाते हैं। उनके प्रति श्रद्धा और प्रेम पैदा करते हैं। हर साधक को अपने गुरुदेव एवम् गुरुगीता शास्त्र पर अपने सनातन धर्म पर अटल विश्वास होना चाहिए। जिस साधक को अपने गुरु और शास्त्रों के प्रवचनों पर विश्वास नहीं है उसको सुख सिद्धि स्वप्न में भी सुलभ नहीं होती है। कहा भी है—

गुरु के वचन प्रतीति न जेही,
सपनेहुँ सुगम न सुख सिधि तेही॥

साधक को अपने एक गुरु पर ही तथा गुरुदेव के बताये हुए शास्त्र पर ही अटल विश्वास होना चाहिए। मानसकार ने कहा भी है—"एक भरोसो एक बल एक आस विश्वास" एकमात्र साधक को एक का ही विश्वास करना चाहिए जो एक का ही भरोसा, आशा और विश्वास करना चाहिए। जो एक गुरु का शिष्य कहलाकर अन्य गुरु की आशा करता है तो समझो उसको अपने गुरु पर विश्वास नहीं है। मानसकार ने कहा भी है—

मोर दास कहाय नर आशा।
करे तो कहहु कहाँ विश्वासा॥

विश्वास के बिना फल की प्राप्ति नहीं होती है, इसलिए कहा भी है—"विश्वासं फलदायकम्" क्या तुम्हें विश्वास रूप शिव की वाणी पर भी विश्वास नहीं है।

गुरुगीता के पाठ से मिलने वाले लाभ

किसी व्यक्ति, वस्तु, शास्त्र व देव के प्रति जानकारी के बिना उससे मिलने वाले लाभ को प्राप्त नहीं किया जा सकता। मानसकार ने कहा भी है—

जाने बिन न होय परतीती।
बिन परतीति होय नहि प्रीती॥

बिना जानकारी के गुरु और शास्त्र के प्रति अनुराग का आविर्भाव नहीं हो सकता है। जब तक निष्ठा का उदय नहीं होता है तब तक इनके प्रति रुचि, प्रेम नहीं होता। श्री गुरुगीता के पाठ से क्या लाभ मिलता है? इसी विशेष उद्देश्य को लेकर यह लेख लिखा गया है। श्री गुरुगीता शब्दमय गुरुदेव का सजीव शरीर ही है। प्रत्येक गुरु भक्त के लिए गुरुगीता नित्य पठनीय स्मरणीय एवं सदा अपने संग रखने योग्य है। पार्वती जी ने श्री शिव जी से पूछा—भगवन् इस सच्चिदानन्द स्वरूप सद्गुरुदेव व श्री गुरुगीता लाभ की चाभी कहाँ है? तथा क्या है? महादेवजी ने उत्तर दिया—हे देवि! यह चाभी विश्वास है। जो व्यक्ति जिस गुरु के द्वारा दीक्षित हो उसी की वह शिष्य श्रद्धा और विश्वास के साथ पूजा सेवा करे तथा गुरुगीता शास्त्र को साक्षात् जीवन्त गुरु की भाँति उस पर विश्वास करके पाठ करे। पाठकों के हृदय में गुरुतत्व उतर सके, उनकी बुद्धि में गुरु तथा गुरुगीता के प्रति अटल विश्वास हो जाय, उनका मन निरन्तर गुरु चिन्तन मनन में लगे, उनके हृदयों में गुरु के प्रति प्रीति उमड़े, यही मेरी हार्दिक भावना है। लेकिन यह सब तभी होगा जब श्री गुरुगीता का नित्य पाठ करने से हृदय में प्रविष्ट करेगी। एक सच्चे शिष्य के लिए गुरुदेव से बढ़कर उसका कोई देव नहीं है। उसके लिए गुरुज्ञान ही गंगा है। गुरुदेव का निवास ही सिद्धपीठ काशी अविमुक्त क्षेत्र है तथा गुरु चरण ही सर्व तीर्थ स्थल है उसके लिए गुरु धर्म गुरु कर्म है। गुरु से बढ़कर त्रिभुवन में अन्य कोई देव नहीं है। इसी प्रकार श्री गुरुगीता से बढ़कर उसके लिए अन्य कोई शास्त्र भी नहीं है। जिसके हृदय में गुरुगीता ज्ञान का प्रकाश है उस हृदय में अज्ञान, अविद्या, मोहतम अन्धकार नहीं रह सकता। शिष्यों के लिए यह गुरुगीता दिव्य अमृत एवम् दिव्य दृष्टि प्रदान करने वाला दिव्याञ्जन है। इस गुरुगीता ज्ञान को हृदयंगम करने एवम् गुरुगीता अमृत का पान करने से ही जीव अमर हो जाता है। और समस्त बन्धनों से मुक्त होकर ब्रह्म में लय होकर ब्रह्ममय हो जाता है। गुरुगीता के प्रति अगाध श्रद्धा, प्रेम और विश्वास के साथ इसका पाठ करने से ही इसका समुचित लाभ प्राप्त होता है। गुरुगीता-गुरु महिमा का मान करने वाली अमूल्य एवं अनुपम अक्षय निधि है। एक सद्शिष्य को जीवन्त गुरु के सानिध्य से जो लाभ प्राप्त होता है वही लाभ गुरुगीता के नित्य पाठ से पाठक प्राप्त कर सकता है, गुरुगीता ज्ञान-गंगा में नित्य स्नान करने वाला व्यक्ति परम पवित्र हो जाता है। गुरुगीता के नित्य पाठ से समस्त सिद्धियाँ भोग तथा मोक्ष दोनों की प्राप्ति होती है। इसमें सन्देह नहीं है। मेरे द्वारा (शिव) गुरुगीता का ज्ञान सत्य है, सत्य है और पूर्ण सत्य है। गुरुगीता के समान सचमुच कुछ भी नहीं है। एक ही देव एक ही धर्म, एक ही निष्ठा और एक ही परम शक्ति कि गुरु से बढ़कर कोई तत्व नहीं है। मोक्ष प्राप्ति की इच्छा रखने वाले को गुरुगीता का सदा नित्य मोक्ष की कामना, भावना करके पाठ करना चाहिए।

श्री गुरुगीता के पाठ से समस्त विघ्न बाधायें शान्त होती हैं। एवम् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति होती है। गुरुगीता का पाठक जिन-जिन वस्तुओं की कामना करता है। निश्चय ही उन सबकी उसे प्राप्ति होती है। गुरुगीता का पाठ समस्त दुख, भय, विघ्न और पापों को नष्ट करता है। गुरुगीता के

सकाम पाठ करने से आयु, आरोग्य, ऐश्वर्य, पुत्र-पौत्रों की अभिवृद्धि होती है। विधवा स्त्री यदि निष्काम भाव से पाठ करे तो उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है। मरणकाल में गुरुगीता का पाठ व जप करने से मोक्ष मिलता है। गुरुगीता के पाठ करने से हर क्षेत्र में विजय प्राप्त होती है। प्रस्थान के समय, युद्ध में और शत्रु द्वारा उत्पन्न संकट काल में इस पाठ से विजय प्राप्त होती है।

गुरु पुत्र (शिष्य) के सभी कार्य सर्वत्र सिद्ध होते हैं। गुरुगीता के पाठ से समस्त अनिष्टों का स्तम्भन, शुभगुणों की अभिवृद्धि दुष्कर्मों का नाश और शुभकर्मों की सिद्धि होती है। सभी असिद्ध कार्य सिद्ध होते हैं। नवग्रहों का प्रकोप समाप्त होता है। दुःस्वप्न का नाश होता है। गुरुगीता वन्ध्या को पुत्र देती है तथा स्त्रियों के सुहाग की रक्षा करके सदा सौभाग्य प्रदान करती है। गुरुगीता का पाठ बिल्व वृक्ष, वट वृक्ष, एवम् आम्र वृक्ष के नीचे कुशासन अथवा कम्बल के आसन पर बैठकर पाठ व जप करने से शीघ्र सिद्धि मिलती है। श्री गुरुगीता को भक्तिपूर्वक पढ़ने-सुनने तथा इसको लिखकर दान करने से सर्व फलों की प्राप्ति होती है। भव व्याधि नाश करने के लिए सदा स्वयं ही नित्य इसका पाठ करना चाहिए। इसके पाठ से समस्त पापों का शमन एवम् दरिद्रता का नाश होता है। गुरु-गीता का स्वाध्याय अकाल मृत्यु, एवम् भय का हरण करने वाला है। सर्व संकटों का नाश तथा यक्ष, राक्षस, भूत, चोर व्याघ्रादि के भय का हरण करने वाला है। इससे समस्त व्याधियाँ दूर होती हैं। सब प्रकार की सिद्धियाँ और अलौकिक शक्ति प्राप्त होती है।

"गुरु" नाम का यह दो अक्षर वाला मन्त्र एक ही महामन्त्र है। संसार में इससे बढ़कर कोई मन्त्र नहीं है। शिव कहते हैं कि मेरा यह कथन कभी मिथ्या नहीं हो सकता, यह सत्य स्वरूप है। श्री गुरुगीता को भावपूर्वक नित्य हृदय में धारण करने से व्यक्ति जो-जो अभिलाषा करेगा उसको वह निश्चय ही प्राप्त होगा। गुरुगीता के समान अन्य कोई स्तोत्र नहीं है। जिसके मुख में गुरु मन्त्र एवं गुरुगीता के श्लोक सदा रहते हैं उसके सब कार्य सदा सिद्ध होते हैं। इस गुरुगीता को अपने हाथ से लिखकर जो उसकी पूजा करता है उसे लक्ष्मी और मोक्ष की प्राप्ति होती है। गुरुगीता सब तापों का शमन करके नित्य सौभाग्य तथा पुण्य प्रदान करती है। गुरुगीता कुष्ठ आदि दुष्ट रोगों का निवारण करने वाली है। मोह-माया के बन्धन में पड़े जीवों को मुक्त करने वाली तथा गुरु तत्त्व को प्रकट करने वाली है। गुरुगीता का नित्य पाठ करने वाले के हृदय में गुरुभक्ति अवश्य ही उत्पन्न होती है। यह गुरुगीता गुरुदेव की भाँति ही इसका पाठ करने वाले का रक्षण करती है। अपने गुरु एवम् गुरुमन्त्र का त्याग करने से रौरौ नरक मिलता है। माता के समान ही गुरुगीता पाठक का ध्यान रखती है।

पार्वती जी ने शिव से पूछा कि आप ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र आदि के नमस्कार के योग्य हैं, ऐसे नमस्कार के आश्रय रूप होने पर भी आप किसको नमस्कार करते हैं। इस प्रश्न के उत्तर में शिव ने कहा—हे देवि! जो गुरु है वही शिव है। जो शिव है वही गुरु है। इन दोनों में जो अन्तर मानता है वही पापी है। हे देवि! गुरु तो मेरा ही स्वरूप है। उसी अपने स्वरूप गुरु को मैं प्रणाम करता हूँ। गुरु भगवान विश्वनाथ हैं। निश्चित ही

साक्षात् तारक ब्रह्म हैं। ऐसे गुरुदेव का नित्य ध्यान करने से ही यह जीव ब्रह्म हो जाता है। मोक्ष की आकांक्षा वाले साधक को शिव-स्वरूप गुरु की भक्ति नित्य करनी चाहिए। गुरुदेव ही सत्वगुणी होकर विष्णुरूप से जगत का पालन करते हैं। रजो गुणी होकर ब्रह्मा रूप से जगत का सृजन करते हैं, और तमोगुणी हो रुद्ररूप धारण कर जगत का संहार करते हैं। समग्र धर्म, शास्त्र, तीर्थ एवं देवों का सारतत्व गुरु ही है। गुरु के सिवाय कोई दूसरा ब्रह्म नहीं है। श्री गुरु का निवास ही काशी क्षेत्र है। गुरु का चरणोदक ही गंगा है। श्री गुरु ही विश्वेश्वर (काशी विश्वनाथ) हैं और वे निश्चय ही साक्षात् तारक ब्रह्म हैं (संसार सागर से तारते) हैं। जो अनन्य भाव से मेरे (शिव स्वरूप गुरु का) यत्नपूर्वक चिन्तन करता है उसके लिए परम पद सुलभ है। इसलिए प्रयत्नपूर्वक अपने गुरु की आराधना करो। अपने गुरुके शरीर के न रहने पर दूसरा गुरु बनाना उचित नहीं है क्योंकि यह गुरुतत्व तो नित्य है, शाश्वत है। गुरु आराधना के लिए अपना जीवन भी गुरु को निवेदित (समर्पित) कर देना चाहिये। इस मल, मूत्र, रक्त, मांस, हड्डी युक्त अधम शरीर को गुरु को समर्पित करने में संकोच नहीं करना चाहिए। जो संसार सागर को पार करने के लिये सेतु रूप हैं तथा जो समस्त विद्याओं के उद्गम स्थल हैं, जो समस्त पुण्य सद्कर्मों के करणकारण हैं, ऐसे कल्याणकारी शिव-स्वरूप गुरुदेव का सतत् स्मरण, जप, ध्यान करना चाहिये। शिव के रुष्ट होने पर गुरु त्राण (रक्षा) करने वाले हैं। किन्तु गुरु के रुष्ट होने पर शिव भी रक्षा नहीं कर सकते। हर सद्‌शिष्य के अन्दर अपने गुरु के प्रति इस प्रकार की भावना होनी चाहिए कि मेरे गुरुदेव ही तीनों लोकों के गुरु हैं, वे ही मेरी आत्मा हैं। वे सर्वव्यापी सबकी आत्मा हैं। गुरुदेव आदि हैं, अनादि हैं और गुरुदेव ही परम देवत्व हैं। श्री गुरुदेव से परे कुछ भी नहीं है, जब तक साधक का शरीर रहे कल्पान्त के अन्त तक श्री गुरुदेव का स्मरण करना चाहिये। गुरुदेव को कभी न भूलें। गुरु से कभी भी विमुख नहीं होना चाहिए, भले ही शिष्य मुक्तावस्था को प्राप्त हो जाय।

सकाम भाव से पाठ करने वाले के लिए श्री गुरुगीता कामधेनु है। कल्पना करने वालों के लिए कल्प वृक्ष है। चिन्तन करने वालों के लिए चिन्तामणि है। इस प्रकार गुरुगीता का नित्य पाठ करने वालों के लिए यह सदा सर्वमंगलकारक है। श्री गुरुगीता के पाठ से जो पवित्र हो गया है, उसके दर्शन-मात्र से पुनर्जन्म नहीं होता है। मेरे द्वारा कहा गया यह धर्मयुक्त श्रीगुरुगीता ज्ञान सत्य है और पूर्ण सत्य है। हे सुमुखि ! गुरुगीता के समान सचमुच त्रिभुवन में कुछ नहीं है। संसार रूपी सागर से उद्धार करने वाला यह एकमात्र मन्त्र है, जो ब्रह्मादि देवों और मुनिजनों द्वारा पूजित सिद्ध मन्त्र है, जो मृत्यु रूपी महाभय का हरण करता है। ऐसे सर्वश्रेष्ठ गुरुगीता रूपी महामन्त्र को मैं सत्‌सत् नमन करता हूँ।

नोट—ब्रह्मस्वरूप गुरु के रूप को बतानेवाली श्री गुरुगीता का नित्य उच्च स्वर में, भावपूर्वक, ब्रह्ममुहूर्त में पाठ करने से साधक को शीघ्र सिद्धि प्राप्त होती है। कृपया नियमित एवम् भावपूर्वक इसका पाठ करके लाभ प्राप्त करें।

★ गुरु-शिष्य एकात्मत्व ★

❀ श्रीमति कविता शर्मा

नित्य साँझ होती है और तारों की झिलमिलाहटों के साथ एक और जगत प्रारम्भ होता है। एक अन्तर्यात्रा प्रारम्भ होती है जिसमें अपने ही अन्दर कई कदम चलकर व्यक्ति फिर अपने ही अन्दर कहीं और पहुँच जाता है। लेकिन यह यात्रा क्या बस इतनी ही है? अभी कह भी क्या सकते हैं, कह भी तो तभी पायेंगे जब यह यात्रा पूरी हो जायेगी।

ऐसा ही जगत, ऐसी ही दुनिया प्रारम्भ होती है नित एक शिष्य के जीवन में भी। रात आयी, तारों की छाँव मिली और रोज की ही भाँति कहानी, वे ही ध्यान-धारणा समाधि की कथाएँ, प्राणों की लुकाछिपी शुरू हो गई। कुछ प्राणों में समा जाने की गुन-गुनाहट मन में छाने लगी। ऐसी कथाएँ जिन्हें सुनते हुए न तो कभी शिष्यों का मन भरा और गुरु का मन तो कभी भर ही नहीं सकता।

कैसा विचित्र होता है शिशु और माँ का जगत। माँ जब तक सामने नहीं तब तक तो वह चुपचाप खेल रहा है, अपने आप में ही खोया हुआ, अपनी ही दुनिया में मग्न है, लेकिन माँ की एक झलक भर देखी नहीं कि हिलककर, हुलसकर, सब कुछ छोड़कर उसी ओर दौड़ पड़ा और जाकर लिपट गया। तब एक ही पल में सभी खिलौने, सभी आनन्द व्यर्थ लगने लगते हैं। कहाँ तो उसके बिना उतनी देर अकेला रहा और कहाँ देखने के बाद उसके बिना एक पल भी रहना नहीं चाहता। भोली आँखों में कितना आग्रह और कैसी कातरता उमड़ आती है कि कहीं वह मुझ से बिछुड़ तो नहीं जायेगी।

ठीक ऐसा ही गुरु-शिष्य के मध्य भी तो होता है। जब तक वह मिलें नहीं बस तभी तक इस जगत के खिलौने सुन्दर लगते हैं। लेकिन जिस दिन भी कोई एक झलक मिल जाती है इस तरह से सामान्य आवरण डाले उसी दिव्य देह में मातृत्व जैसा कुछ समझ में आ जाता है, उसके बाद से आँखों में बच्चे की तरह से एक अबोधता ही उतर आती है। व्यक्ति अपनी सारी चतुराई भूलने लगता है और जिस तरह बच्चा अपनी माँ का सानिध्य ना छूटे इसके लिये उसकी एक-एक बात मानने लगता है। ठीक वैसा ही गुरु के अन्दर प्रारम्भ हो जाता है, तब उसे गुरु की आज्ञा का पालन नहीं करना पड़ता। गुरु की आज्ञा तब उसके लिये प्रेम का एक सम्बन्ध बन जाती है और इससे भी आगे बढ़कर गुरु की इच्छा चाहे व्यक्त हो अथवा अव्यक्त प्रेम का तन्तु बन जाती है। जब ऐसी स्थिति बनती है तभी जीवन का पुण्य होता है। जो जीवन उलझता-सुलझता मृत्यु के पथ पर जा रहा होता है वह वापिस शिशुत्व की ओर

लौट पड़ता है जिसे साधक अपने जीवन की यात्रा कहता है। जिस शान्ति की आशा में वह गुरु के पास जाता है वह सब शनैः शनैः समाप्त होने लगता है, सारी तृष्णायें अर्थ लगने लगती हैं, समस्त सांसारिक इच्छाएँ हेय हो जाती हैं और उसका एक ही चिन्तन एक ही लक्ष्य रह जाता है कि कैसे वह अपने को और अधिक खाली कर दे, कैसे अपनी वासनाओं, तृष्णाओं का त्याग कर दे, अपने को निर्मल बना दे और एक प्रकार से अपने को गुरु का स्नेह भाजन बनाने की सम्पूर्ण तैयारी कर ले। कभी देखा है किसी बच्चे को कि कैसे-कैसे वह अपनी माँ को रिझाता है या कभी देखा है कि कैसे माँ शिशु के रूठ जाने पर सौ-सौ बहाने करके मनाती है। कैसे वह इतराता है, इठलाता है और एक तरह से अपने आप ही मुग्ध रहता है कि माँ की एक दृष्टि मुझ पर पड़ जाये, वह एक बार बस उसको आँख भरकर देख ले। ऐसा ही संसार होता है गुरु-शिष्य का। जीवन में निर्मल होने पर गुरु नहीं मिलते। जीवन की इन्हीं मलिनताओं, कठिनाइयों और ऊहापोह के वातावरण में गुरु मिलते हैं और उनके स्पर्श के बाद ही निर्मलता का बोध प्रारम्भ होता है जो उन्हीं के आग्रह से दिन प्रतिदिन और भी अधिक निखरता जाता है।

जीवन में ऐसी स्थिति आये उसके लिये गुरु उसे संकेत भी करते रहते हैं। और ऐसा करने के लिए अपने आपको सजाने-संवारने के लिये ठीक उसी बच्चे की तरह साधक स्वयं भी आतुर हो जाता है। जीवन का एक ही उद्देश्य बनता जाता है कि कैसे मैं क्या कुछ कर दूँ जिससे गुरु को प्रसन्नता हो। उनके चेहरे पर तनाव की कुछ लकीरें तो कम हों। बहुत बड़े बोध, बहुत विराट लक्ष्य या बहुत गहन चिन्तन शिष्य के जीवन में शायद नहीं होते हैं क्योंकि उसका तो लक्ष्य एक ही होता है, उसके गुरु वह जो कुछ करता है उन्हीं के लिये करता है, उन्हीं के लिए चलता है, उन्हीं के लिए सोता है, जागता है और हँसता व उदास होता है। जीवन में ऐसा हो जाना, ऐसी घटना घट जाना जीवन का एकाकीपन नहीं है। इसके विपरीत तब जीवन में कई रंग आकर घुलमिल जाते हैं। जिस संसार को आज तक वासनामयी और कामनामयी दृष्टि से देखा था वही आत्मवत् दिखने लग जाता है। तब सभी अपने लगते हैं। तब लेने की इच्छा नहीं देने की इच्छा अपने आप पनप ही जाती है। ज्यों शिशु के सभी तो मित्र होते हैं, क्या पशु, क्या पक्षी, क्या फूल और क्या कौतूहल पैदा करती एक-एक वस्तु। तब ऐसा होता है एक-एक प्राणी उसका अपना हो जाता है, एक-एक फूल उससे बात करने को आतुर हो जाता है। घास का एक-एक तिनका तब उसके प्राणों को छू लेने के लिये हिलता हुआ नर्तन करता दिखता है, जब ऐसा घटित हो जाता है तभी मन में कुछ उमड़ता है। जब उमड़ता है या जो उमड़ता है वही आनन्द है, वही वह अनिर्वचनीय रस है जो ब्रह्म है, जो समाधि की चेतना है जिसको शास्त्र व्यक्त नहीं कर सके, पुराण बता नहीं सके।

यह धरती यह आकाश, प्रकृति का एक एक कण और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड केवल उमड़ने से ही सौन्दर्य में भरा है। वृक्ष उमड़े और ठण्डी हवा दे गये। सूरज उमड़ा और कच्ची बालों में रस भर गया। चाँदनी उमड़कर हृदय में ठण्डक भर गई। बादल उमड़े धरा को सींच गये। समुद्र उमड़कर धरती को

(शेष पृष्ठ १८ पर)

मानसिक रोगों की चिकित्सा में :–

–: योग का योगदान :–

❀ डा० ऋषिराज वाशिष्ठ, पी-एच० डी० (आयुर्वेद)
१२ ए. देवा ट्रस्ट मार्केट, बूड़िया चौक, जगाधरी (हरियाणा)

वर्तमान नव औद्योगिक युग को चिन्ता-युग कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं है। जो सामान्य व्यक्ति के जीवन में नये-नये तनाव की वृद्धि कर रहा है इसी तनाव का परिणाम है आज निरन्तर बढ़ता मानसिक रोग।

आयुर्वेद के मतानुसार मानसिक रोगों की उत्पत्ति के प्रधान कारण रज और तम है, इनसे उत्पन्न काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, भय आदि चिन्ता और दिमागी कमजोरी है। इन विकारों का जनक मुख्यतः मनुष्यों का प्रज्ञापराध है। महर्षि चरक ने कहा है कि—

प्रज्ञापराधो हि मूलं रोगाणाम् ।

अर्थात्, मानव बुद्धि की अनवधानता से होने वाली भूलें ही रोगों का मूल कारण है। मानसिक रोगों का मूल कारण प्रज्ञापराध ही है।

ईर्ष्या, शोक, भय, क्रोध,
मान द्वेषादयश्च ये।
मनोविकारास्तेऽप्युक्ताः
सर्वे प्रज्ञापराधजाः ॥

अर्थात् जो भी मन के विकार हैं वे सब के सब प्रज्ञापराध से ही उत्पन्न होते हैं। अतएव मानसिक स्वास्थ्य के लिये प्रज्ञापराधों से बचना चाहिए।

आयुर्वेद की दृष्टि से मानव शरीर में तीन दोष होते हैं—वात, पित्त कफ। मानसिक जगत में काम-वात, लोभ-कफ, क्रोध-पित्त कफ है। ममता दादवत् है, ईर्ष्या खुजली है, हर्ष और विषाद गठिया वात है। दूसरों को सुखी देखकर जलना क्षय है, मन की कुटिलता दुष्टता कोढ़ है, तृष्णा जलोदर है, अविवेक ज्वर है।

(पृष्ठ १७ से आगे)

हिलोरें दे गया। शिष्य भी जब उमड़ता है, हुलसता है तो पूरी मानवता को सुगन्ध मिल जाती है। एक साथ सूरज की गरमी, चाँद की शीतलता, समुद्र की हिलोरें और पेड़ों का नर्तन उसके शरीर में उतर आता है। ज्यों एक शिशु की किलकारी से सारा घर हुलसने लग जाता है वैसा ही हुलसना, उमड़ना गुरु के सानिध्य से, उनके स्पर्श से साधक (शिष्य) के साथ होने लगता है।

बच्चे की तरह शिष्य भी बहुत संवेदनशील होता है। वह स्नेह का वास्तविक स्पर्श ही तो ढूंढ रहा होता है। निर्मल प्रेम की आशा में ही तो वह सामान्य जीवन से अलग हटकर शिष्य बनने की क्रिया करता है। और ऐसा निर्मल प्रेम, ऐसी निश्छल दृष्टि उसे गुरु के अतिरिक्त भला और कहाँ से मिल सकती है। इसीसे उसका संसार बाह्य छलनामय जगत से कटता जाता है और एक ही आधार गुरु से जुड़ जाता है। उसे उस एक आधार से ही इतना कुछ मिल जाता है और निरन्तर मिलता रहता है जो उसको पूरे जीवन में बहने के लिये पर्याप्त है। ★

मानसिक आवेग ४ है—क्रोध, मान, माया एवं लोभ। ये भी मन को प्रभावित करते हैं। मानसिक आवेग शरीर की रोग प्रतिरोधक शक्ति को नष्ट कर देते हैं. शरीर में दो महत्वपूर्ण पाचक रस बनते हैं हाइड्रोक्लोरिक और पैप्सीन। ईर्ष्या-द्वेष, भय, शोक, क्लेश, निंद्रा, घृणा आदि मानसिक आवेगों की अवस्था में पाचक रस अल्पमात्रा में बनते हैं। इसलिए शरीर और मन शक्तिहीन हो जाते हैं।

योग के अनुसार मानसिक रोग का मुख्य कारण है चित्त का चञ्चल होना। आज तनाव व मानसिक दबाव के कारण प्रत्येक व्यक्ति का चित्त चञ्चल है। इसी चञ्चल चित्त के कारण वह परिस्थितियों का दास बना रहता है और इसी कारण उसे अपने जीवन में अनेक विपत्तियों का सामना करना पड़ रहा है, मानव वर्तमान परिस्थितियों से समायोजित करने में असमर्थ है। यह सब चञ्चल चित्त के कारण होता है, चित्त शान्त होते ही मानसिक रोग शान्त हो जाता है, और हम देवस्वरूप बन जाते हैं। सन्त कबीर ने कहा है—

"मैं तो उन सन्तन का दास जिन्होंने मन मार लिया। सुख-दुख दो महत्वपूर्ण तत्व हैं इनका घटक हमारा मन है, यदि हम दुख का संवेदन करें तो दुख होता है, सम्वेदन न करें तो दुख नहीं होता। इसी प्रकार सुख का भी है, यह हमारे सम्वेदन पर निर्भर है।

योग की पद्धति नियन्त्रण संयम की पद्धति है, नियन्त्रण दमन से नहीं होता वह जीवन की स्वाभाविक क्रिया है। यदि सुख-दुख से मुक्ति पाना चाहते हो तो संवेदन केन्द्रों पर नियन्त्रण करना होगा। नियमित योगाभ्यास से हमारे स्वतः संचालित नाड़ी संस्थान के सिम्पैथेटिक और पैरासिम्पैथेटिक तन्त्र के मध्य सन्तुलन पैदा करता है तथा उसे बनाये रखता है जिससे काम, क्रोध, ईर्ष्या, लोभ, मोह प्रतिशोध और भय जैसी वृत्तियां नियन्त्रित रहती हैं। वृत्तियाँ एवम वासनाओं का उद्भव मस्तिष्क में से नहीं अपितु अन्तःस्रावी ग्रन्थियों द्वारा होता है। ये वृत्तियां व्यक्ति में केवल इच्छा या कामना पैदा नहीं करती अपितु उन्हें पूरा करने की मांग करती है। अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के स्राव के कारण भाव धारा को विकृत होने से रोका जा सकता है, वह है—योग-योगाभ्यास द्वारा मन में उत्पन्न होने वाले संकल्प-विकल्प और विक्षेपों को रोका व निष्प्रभावी किया जा सकता है, मनुष्य का मन सुख-दुख में काम-क्रोध में, ईर्ष्या-द्वेष में उलझा है। यह सब मन में संकल्प-विकल्प को जन्म देती है। इन सभी घटना का प्रभाव मन पर पड़ता है और चित्त की चञ्चलता बढ़ती है। इसी के कारण मनोरोग शुरू होते हैं।

मानसिक रोगियों के लिए ध्यान लाभप्रद है, ध्यान से आदतें बदलती हैं, स्वभाव बदलते हैं वैज्ञानिकों ने मस्तिष्क में R. N. A. नामक रसायन को मस्तिष्क में माना है जो सारी चेतना की पर्तों पर छाया रहता है यह व्यक्तित्व के रूपान्तर का घटक है। इसे घटाया बढ़ाया जा सकता है, उसके आधार पर ही आदतें बदलती हैं।

जब साधक ध्यानावस्था में काया का उत्सर्ग कर देता है, शरीर की एक-एक कोशिका को निष्क्रिय-सा बना देता है, वाणी शान्त, श्वास शान्त, मन शान्त, समस्त कर्म-तन्त्र शान्त तो उस विश्राम की सघन स्थिति में मस्तिष्क में "अल्फा तरंग" उत्पन्न होती है,

यह तरंगें साधक को आनन्द विभोर करती हैं। आज मनोवैज्ञानिक मानते हैं कि २०% मानसिक रोग ऐसे होते हैं। जिनकी चिकित्सा ध्यान द्वारा की जा सकती है। यदि एक व्यक्ति के मस्तिष्क की अल्फा तरंगों को दूसरे व्यक्ति के मस्तिष्क में प्रेषित किया जाय तो रोग का उपचार हो जाता है। यदि कोई व्यक्ति किसी महापुरुष सन्त के पास बैठता है तो उसे अपूर्व आनन्द का अनुभव होता है, इसका कारण अल्फा तरङ्गों का प्रवेश वैज्ञानिक मानते हैं।

जो व्यक्ति वर्तमान में जीता है, जिसने वर्तमान को पकड़ रखा है वह मानसिक रोगी नहीं हो सकता। मन के अन्दर उठने वाले संकल्प-विकल्प को जीतने के लिये प्राण को नियन्त्रित करना चाहिये, और यह नियन्त्रण केवल प्राणायाम द्वारा सम्भव है।

इस प्रकार जो व्यक्ति सन्तुलित जीवन जीता है, समता का जीवन जीता है, मन को आवेगों और दुश्चिन्ताओं की भट्टी में नहीं झोंकता, समता का यह बहुत बड़ा परिणाम है। मानसिक स्वास्थ्य जिसने इसकी समता का मूल्यांकन नहीं किया उसने अपने मानसिक स्वास्थ्य को कभी मजबूत नहीं रखा। इसीको भगवान कृष्ण ने योग कहा है—

समत्वं योग उच्यते।

इसलिये मानसिक स्वास्थ्य को केवल योग द्वारा ही हम प्राप्त कर सकते हैं।

प्राण और ध्यान

प्राण की गति ध्यान के साथ होती है। साधक हृदय में ध्यान करे, तो प्राण कण्ठ के नीचे जाने लगता है। जब प्राण हृदय की ओर बहता है तो सिर को नीचे की ओर प्राण ही झुका देता है। हृदयाकाश के प्रकाशामृत में, मन स्थिर होने से प्राण सूक्ष्म होकर, सम्पूर्ण शरीर की विषमता दूर कर देता है। वात, पित्त और कफ को सम रखता है। प्राण सूक्ष्म गति से नासिका में चलने लगता है। प्राण की गति में भी मृदु, मधुर आनन्द प्रतीत होता है। प्राण सात्विक सूक्ष्म और प्रकाश युक्त हो जाता है। शरीर और मन को स्वस्थ रखने वाला प्राण ही है। यही प्राण मन को प्रज्ञामृत का पान कराता है। शरीर की गति, प्रकाश और नाना प्रकार की ध्वनि कानों में पहुँचाने का कारण प्राण ही है। प्राण के कारण से ही ध्यान में शरीर तक अप्रफुल्लित रहता है। साधक जहाँ पर मन रोके वहीं पर प्राण भी रुकने लगता है। प्राण और मन का अटूट सम्बन्ध है। इसीलिए कहा है—

यत्र मनो लीयते तत्र प्राणो लीयते।

—स्वामी निर्गुणानन्द

-: जैसा ख्याल वैसा हाल :-

❀ श्री विष्णुप्रसाद व्यास (बीना)

प्रकृति का यह एक अटल नियम है कि वह प्रत्येक जीव को उसके विचारों के अनुसार फल देती है। ये विचार क्या हैं? ये बीज हैं। जिस प्रकार का भी बीज भूमि के अन्दर बोया जाता है उसी प्रकार का फल प्रकृति देती है। यदि बीज कड़ुवे तूंबे का बोया जायगा तो फल भी उसका वैसा ही आयेगा। और यदि बीज मीठे तरबूजे का बोया जायगा तो फल भी मीठा तरबूज ही लगेगा। धरती में कड़ुवे तूंबे का बीज हो अथवा मीठे तरबूजे का हो उन दोनों के उगने में प्रकृति की ओर से एक समान ही धूप, वायु और पानी की सहायता मिलती है। फिर भी फल बीज के अनुसार आता है। ऐसा कदापि नहीं होता कि मीठे तरबूज के लिये रोशनी, हवा, पानी मीठे होते हों और कड़ुवे तूंबे के लिये कड़ुवे बन जाते हों। प्रकृति का तो केवल काम बीज को उगाने में सहायता देना है। इसी प्रकार जिस जीव के विचार मोह-माया के पदार्थों में लगे होते हैं और दिन-रात उन्हीं में आसक्त हैं, उनके मन इस आसक्ति द्वारा गन्दे होते रहते हैं। जितनी-जितनी अधिक जीव इन मायावी पदार्थों में फँसायेगा उतना-उतना ही उसका मन गन्दा होगा और उस पर मैल चढ़ती जायेगी। जीव चाहे इसको समझे या न समझे। प्रकृति की तरफ से तो दोनों को एक जैसी ही सहायता मिलेगी, चाहे वह संसार को मन दे या भक्ति और परमार्थ में रुचि रखे। यह प्रकृति का विधान है—"जो करोगे सो भरोगे, जो सोचोगे वही पाओगे और जो बोओगे वही काटोगे।"

श्री गुरुदेव ने एक दिन प्रवचन में कहा—"यदि अन्तिम क्षण में कोई जीव सर्प का चिन्तन करता है तो ईश्वर उसे सर्प योनि में भेजते हैं। केवल एक योनि नहीं अपितु बार-बार उस जीव को उसी योनि में भटकना पड़ता है। इसी प्रकार अन्तिम समय में लड़के का ध्यान करने से जीव को सूअर की योनि मिलती है।" अब विचारणीय बात तो यह है कि जीव के बार-बार सर्प की योनि में अथवा सूअर की योनि में जाने में विधाता का क्या दोष है? विधि ने तो उसकी आसक्ति और मांग का फल दिया है। इन के अन्दर जिसका लगाव है और अन्तकाल में भी उस को स्मरण करता है तो उसका उत्तर प्रकृति उसे इस प्रकार देती है कि यह मानुष जन्म तो तुझे भजन-भक्ति करने के लिये मिला है या न कि धनोपार्जन करने और उसमें दिल फँसाने के लिये।

यदि तूने मानुष-जन्म को पाकर भी अपने वास्तविक उद्देश्य को नहीं समझा तो तुझे इस मानव-जन्म को पाने का अधिकार ही न था। क्योंकि यह आसक्ति तो नीच योनियों में भी पूरी हो सकती है। इसीलिये उस जीव को सर्प की नीच योनि में धकेल दिया जाता है। सर्प की भी धन में बड़ी आसक्ति होती है और इसलिये जहाँ भी धरती में धन दबा पड़ा हो सर्प वहाँ निवास

कर लेता है। वहाँ से अलग होना नहीं चाहता। इसी तरह जीव की सूअर, प्रेत, वेश्या आदि की योनियों के मिलने में यही ऊपर वाला प्राकृतिक विधान लागू होता है। चाहे ये योनियाँ जीव ने स्वयं नहीं माँगी और कथनी तौर पर उसने इनकी चाह भी नहीं उठाई परन्तु आचरण से उसने इनकी माँग अवश्य की थी।

प्रकृति के इस विधान को देखकर सन्त सद्गुरु इस संसार में प्रकट होते हैं, इन्हें क्रमशः गुरु के नाम से पुकारा जाता है। 'गु' का अर्थ अन्धेरा और 'रु' का अर्थ प्रकाश का है। जो अन्धकार में से निकालकर ज्ञान की ज्योति प्रदान करे वह 'गुरु' है। इस संसार में वे प्रकट होकर जीव की सुरति के काँटे को बदल देते हैं। जैसे रेलगाड़ी का काँटा बदल देने से वह एक पटरी से दूसरी पटरी पर आ जाती है—इसी प्रकार श्री गुरुदेव जीवों को नरकों वाली पटरी से हटाकर सुख खण्ड वाली पटरी पर लाने के लिये उनकी सुरति के काँटे को बदल देते हैं। भक्ति मार्ग में ये जो नित्य कर्म के साधनों का विधान किया गया है यह सब सुरति को बदलने का उपाय है।

इसमें सन्देह नहीं कि जीव की सुरति का का काँटा एक दम नहीं बदला जाता क्योंकि मन को जन्म-जन्मान्तरों से स्वतन्त्र रहने का रस लगा हुआ है। सबसे पहला साधन जो सत्पुरुषों ने जीव की सुरति को बदलने का प्रदान किया है वह यह कि उन्होंने अपनी संगति दी। सद्गुरु महापुरुष आत्मज्ञान का भण्डार तथा संसार को प्रकाश देने के लिये सूर्य के समान होते हैं। आपने महापुरुषों और दिव्य विभूतियों के चित्रों को देखा होगा कि उन के सिर के चारों ओर ज्योतिमण्डल होता है। महापुरुषों की संगति जो जीव करते हैं उनका हृदय तथा सम्पूर्ण वातावरण प्रकाश से भर जाता है।

दूसरा साधन सुरति में परिवर्तन लाने का यह है कि महापुरुष वचनों द्वारा जीव को समझाते हैं और उनका मार्ग प्रदर्शन करते हैं।

जीव को अपने वचनों व आज्ञा में रहने का उपदेश देते हैं। जो जीव उनके वचनों व आदेशों के बन्धन में आ जाते हैं वे फलस्वरूप आवागमन के बन्धनों से छूट जाते हैं। गुरु-शिष्य मन के कहे अनुसार न चलकर अपने तन-मन और इन्द्रियों को सद्गुरु की आज्ञा में बाँध देते हैं जिससे वे जन्म-मरण के चक्र से विमुक्त हो जाते हैं। इसके विपरीत दुर्जन जीव अपने तन-मन और इन्द्रियों को स्वच्छन्द छोड़ देते हैं और अपने आत्मा को चौरासी के चक्र में उलझा देते हैं।

काल व माया के बन्धनों से यदि बचना है तो अपने आपको सद्गुरु के वचन एवम् आज्ञा में रखना होगा। सदैव लोहे को लोहा काटता है। इसमें सन्देह नहीं कि मन को उनकी आज्ञा व वचनों में रहना कठिन भासता है किन्तु थोड़ी-सी कठिनाई सहार लेने से उसका परलोक तो सुधर जाता है।

दो मार्ग हैं जो सौ-सौ मील लम्बे हैं। इनमें एक मार्ग तो ऐसा है जिसमें एक मील तक तो काँटे हैं और शेष ९९ मील साफ हैं। दूसरे में पहला मील साफ है और शेष ९९ में काँटे ही काँटे हैं। जो इन मार्गों का पूरा भेदी न होगा वह तो उसी मार्ग को पसन्द करेगा जिसमें पहला मील स्वच्छ है और बाकी भाग काँटों से भरा हुआ है। जो भेदी होगा वह दूसरा मार्ग स्वीकार करेगा जो पहले काँटों वाला है और शेष भाग निष्कण्टक है। सद्गुरु महापुरुष जो अपनी मौज में इस

संसार में प्रकट होते हैं, परलोक तथा इस लोक के भेदी होते हैं। अतः वे उपदेश करते हैं कि मन को जो गुरु-वचनों को मानने में कठिनाई प्रतीत होती है तो वह केवल इस लोक में है आगे उसका परलोक तो संवर जायगा। इसलिये जीव का धर्म है कि वह सद्गुरु का अनुसरण करे। कारण यह है कि जीव को जहाँ इस लोक के बाद जाना है वे वहाँ के भेदी हैं और दूर की सब जान रहे हैं किन्तु जीव को अपने मार्ग का कुछ भी ज्ञान नहीं कि आगे क्या कुछ होना है।

भक्ति मार्ग को दूसरे शब्दों में मन को शुद्ध और पवित्र करने का मार्ग भी कहा जा सकता है। महापुरुषों की सारी कार्यवाही जीवों के मन को पवित्र करने की होती है। मन के निर्मल होने में जितना समय लगता है उतना उस पर भक्ति के रंग के चढ़ने में नहीं लगता। मैले कपड़े की धुलाई श्रम माँगती है परन्तु उज्जवल कपड़े पर रंग चढ़ाने में देर नहीं लगती।

जिस तरह कपड़ा अपनी सफाई के लिये धोबी के हवाले हो जाता है, फिर वह जो चाहे करे—गर्म पानी उबाले या पट्टे पर रखकर सोटे मारे। मिट्टी कुम्हार के हवाले होकर कुछ का कुछ बन जाती है। एक घड़े का उदाहरण लो—कुम्हार घड़ा बनाकर उसे आग की तेज भट्ठी में डाल देता है। जब वह पककर बाहर आता है तो स्वयं भी ठण्डा हो जाता है और दूसरों को भी ठण्डा पानी देने वाला बन जाता है। परन्तु जो घड़ा आग की आँच को नहीं सहार सकता वह टूटकर व्यर्थ हो जाता है। इसी प्रकार जीव का भी कर्त्तव्य है कि वह अपने आपको सद्गुरु को सौंप देवे अर्थात् सज्जनता धारण करे और अपनी दुर्जनता को छोड़ता जावे।

ठीक इसी प्रकार सन्त महापुरुष भी जीवों के मन को साफ-सुथरा करने के लिये उनको अपने वचनों की भट्ठी में डालते हैं। सद्गुरु की शरण में रहकर उनके वचनों को पालन करना कोई गुड़ियों का खेल नहीं। यहाँ तो जीवों के मनों को गुरु भक्ति की उखल (ओखली) में डालकर उन पर चढ़े हुए वासना रूपी छिलके को महापुरुष अलग कर देते हैं।

दोहा :-

जब लग चावल धान में,

तब लग उपजे आय।

जग छिलके को तज निकस,

मुक्त रूप हो जाय॥

(सहजोबाई)

जीव को केवल अपने विचारों को शुद्ध तथा पवित्र बनाना है। अपने विचारों को गुरु भक्ति के रंग में रंग देना है।

अपने आपको गुरुभक्ति के बन्धन में रखकर एक गुरु शिष्य को चलना है। दिल में यह भावना हो कि मैं अपराधी हूँ और अपने दोषों की क्षमा माँगने के लिये शरण में आया हूँ तब तो क्षमा मिलेगी और अवश्य मिलेगी अन्यथा नहीं।

यह सब "जैसा ख्याल वैसा हाल" के सिद्धान्त पर निर्भर है। यदि विचार शुद्ध तथा पवित्र हैं तो परलोक का नक्शा भी निर्मल है। यदि विचार मलिन और अपवित्र हैं तो परलोक भी वैसा ही मलिन होगा। अतः अपने विचारों को निर्मल बनाना बहुत आवश्यक है।

हृदयं चेतना-स्थानम्

आचार्य श्री चन्द्रकान्त दुबे एम.ए., व्याकरण, सांख्ययोग, दर्शनाचार्य
अध्यक्ष—सांख्ययोग विभाग, श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ (नई दिल्ली)

प्राणभौतिक प्राणी शरीर में चेतना, चैतन्य या चिति का क्या स्थान है, यह बहुत ही जटिल विषय है। प्रोटोप्लाज्म को चेतना तत्त्व मानने वाले वैज्ञानिक भी वास्तव में इस विषय में किसी तथ्यपूर्ण निर्विवाद निर्णय पर अभी तक नहीं पहुँच पाये। शरीरातिरिक्त चैतन्य है यह मानने के लिए पाश्चात्य जगत को भी बाध्य होना पड़ता है किन्तु चैतन्य एवं शरीर का क्या सम्बन्ध है, साथ ही मन क्या है, कहाँ है आदि प्रश्नों का समुचित उत्तर भारतीय दर्शन ही दे सकता है। कतिपय पाश्चात्य मानस शास्त्री स्नायु संस्थान को ही मन कहते हैं। कुछ के अनुसार प्राणियों की प्रत्येक क्रिया मनोशारीरिक है। यहाँ मुख्यतः चेतना स्थान (Centre of the consciousness) क्या होना चाहिये इसी की विवेचना की जायेगी। इसका निर्णय हो जाने पर उसके कार्य-कलाप एवम् सम्बन्ध स्वतः ही स्पष्ट हो जाते हैं।

आलोच्य विषय सुश्रुत संहिताकार की उक्ति "हृदय चेतना स्थान है, वह अधोमुख पुण्डरीक के सदृश आकृतिमान है, जाग्रत अवस्था में वह विकसित रहता है एवं सुषुप्ति में निमीलित रहता है।" हृदय चैतन्यास्पद या मुख्य चेतना केन्द्र है या नहीं इस विवाद से पूर्व 'हृदयशब्द' प्रकृति में किस अर्थ में आया है यह भी देखना चाहिये। सुश्रुत के के अनुसार "शोणित कफ प्रसादजं हृदयं यदाश्रयाहि धमन्यः प्राणवहाः" ही हृदय है जिसे अंग्रेजी में (Heart) कहते हैं, जिसके अधोवाम भाग में प्लीहा एवं फुफ्फुस है, दक्षिण भाग में यकृत्, क्लोम है। यहाँ हृदय शब्द मन का पर्यायवाची नहीं। मन का स्थान आचार्य 'भेल' "शिरस्तालवन्तर गतं सर्वेन्द्रिय परं मनः" कहकर निर्णीत करते हैं जो कि दर्शनकारों को भी अभिमत है। योगशास्त्र के अनुसार मन का स्थान आज्ञाचक्र में है जिसे (Hind Brain) भी कह सकते हैं। मन की स्थिति आज्ञाचक्र (भ्रू मध्यस्थ) में होने के कारण ही समयोपासना पद्धति में आज्ञाचक्र से प्रारम्भ होने वाले अवरोहण-क्रम को स्वीकार किया गया है। साधारण भाषा में इसे लघुमस्तिष्क (Cerebellum) कहते हैं। इसे कपालकन्द भी कहा जाता है। यहीं पञ्चज्ञानेन्द्रियों एवम् स्वप्न की नाड़ियों का स्थान माना जाता है। सहस्रार जिसे कि एक प्रकार से सुषुम्ना से आने वाले स्नायु समूहों का प्रसार (Cerebrum) कहना चाहिये, सर्वोच्च भाग है, इसके बीच में ही ब्रह्मरन्ध्र (Third ventricle) है, जो मनःस्थान से एक अतिसूक्ष्म नलिका द्वारा सम्बद्ध है। ब्रह्मरन्ध्र त्रिकोणाकृति माना जाता है, यही वेदोक्त हिरण्मयकोश भी है। ब्रह्मरन्ध्र के पृष्ठ भाग में एक आँख के आकार की ग्रन्थि (Pineal gland) है जिसे योगियों का तृतीय नेत्र कहना चाहिये। उपनिषदों के अनुसार "मनः स्थानं गलान्तं, बुद्धेर्वदनं, महदाख्यं हृदयं, चित्तस्य नाभिरिति।" ये

चार ही आभ्यन्तर कारण कहलाते हैं, केवल इनसे संयुक्त रहने पर स्वप्नावस्था होती है जहाँ ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय दोनों निष्क्रिय रहती हैं। एक अन्य मत के अनुसार हृदय बुद्धि का स्थान है।" "तत्र यत्पंकज तुल्यं यद् बुद्धेः स्थानं तद् हृदयं।" आधुनिक विज्ञान के मतानुसार हृदयाख्य शरीर का स्थान पम्प का कार्य करता है जो एक ओर फुफ्फुस से सम्बद्ध है, दूसरी ओर रक्त को लाने, ले जाने वाली नलिकाओं से सम्बद्ध है। यह हृदय चेतनास्थान या आत्मा का स्थान नहीं हो सकता। वैसे प्राणवाहिनी नाड़ियाँ जिनकी संख्या ७२ हजार है, जो समग्र शरीर का सम्बन्ध सुषुम्ना द्वारा मस्तिष्क से करती है अतः मुख्य चेतना केन्द्र मस्तिष्क माना जाना चाहिये तथा सामान्य रूप से चेतना सर्व शरीरव्यापी है। उपनिषदों में "आपोमयः प्राणः" कहा गया है तदनुसार जल का स्थूल भाग मूत्र, मध्यम प्राणवाही रक्त तथा सूक्ष्मतम प्राणशक्ति के रूप में परिवर्तित होता है, इसीलिए "रक्तं जीव इति स्थितिः" कहा गया है। इन समस्त नाड़ियों में भी नासिका वामस्थित इड़ा, दक्षिण पिंगला, मध्यस्थित सुषुम्ना—ये तीन प्रमुखतम प्राणवाहिनी मानी गयी हैं। तदतिरिक्त—वाम-दक्षिण चक्षु गांधारी हस्ति जिह्वा। दक्षिण वामकर्ण-पूषा यशस्विनी। मुख-अलम्बुसा कुहू-लिङ्गदेश। मूलस्थान शंखिनी—ये भी प्रधान प्राण वाहिनियाँ हैं। अन्य गौण। एक विश्लेषण के अनुसार नाड़ियों में चित्त की गति प्राणशक्ति के आधार पर है जो एक होते हुए भी प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान भेद से पञ्चधा विभक्त है। तदनुसार मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार ये चार चेतना के स्तर, जो मस्तिष्क से नाभिपर्यन्त मुख्यतः फैले हुए हैं, माने जाने चाहिये इसीलिये नाभि से ऊपर का भाग पवित्र नीचे का अपवित्र। आधुनिक मनोविज्ञान चेतन, अचेतन, अवचेतन, ये तीन स्तर मस्तिष्क के मानता है। अहङ्कार को उस मत में Ego कहते हैं जिसके भी एकाधिक विभाग हैं।

भारतीय दर्शन भी, सत्व, रज-तम भेद से इसे त्रिधा विभक्त मानता है। यदि इसी को लघु विभाग कर कहें तो तीन प्रकार की शक्ति हुई ज्ञान, इच्छा, क्रिया। मुख्य रूप से ज्ञानशक्ति का स्थान मस्तिष्क, क्रियाशक्ति का सुषुम्ना, इच्छा या संकल्प इन दोनों के मध्य मन में, जिसे लेकर ही कुछ लोगों ने मन, हृदय पर्याय मानकर Heart को चेतना स्थान कहा।

उपनिषद भी प्रज्ञानात्मक ब्रह्म के ही विभिन्न स्तर कहता है—"यदेतद् हृदयं मनश्चैतत्। संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः संकल्पः क्रतुः असुः कामो वंश इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि।"

जैसा कि सुश्रुत कहते हैं हृदय कमलाकृति एवम् अधोमुख है। योगशास्त्र अनाहत चक्र जो कि ठीक सुषुम्ना मध्य, नाभिस्थ स्वाधिष्ठान चक्र से ऊपर है अधोमुख एवम् १२-दल वाला कहा गया है वह सूर्य तत्व है। अतः चन्द्रमण्डल आज्ञाचक्र (भ्रूमध्यस्थ) से झरने वाले अमृत का शोषण करता है। सम्भवतः आचार्य सुश्रुत ने उपर्युक्त अनाहत

चक्र के आश्रय से ही अपना मत स्थापित किया है किन्तु शयनकाल में निमीलन वहाँ भी सम्भव दिखाई नहीं पड़ता। योगियों के अनुसार अनाहतचक्र कुण्डलिनी जागरण के पश्चात् उन्मुख हो चन्द्रमण्डल से अमृत स्रवण कराता है। एवम् जब सहस्रार पर्यन्त षट् चक्र वेध-पूर्वक कुण्डलिनी शक्ति का गमन होता है तो समग्र नाड़ियाँ अमृतपूर्ण होकर योगी के शरीर को दिव्य बनाती हैं।

एक अन्य दृष्टिकोण परिस्वतन्त्र नाड़ी-मण्डल (Autonomus nervous System) का है। शास्त्रानुसार कपाल कन्द से ही एक नाड़ी जिसके स्थलानुसार कूर्म विश्वोदरी कुहू (Vagus Nerve) आदि नाम हैं, ग्रीवा, वक्ष, कटि भाग में होती हुई गुदा पर्यन्त आती है। इसके वाम, दक्षिण दो भाग हैं। दक्षिण भाग वक्ष, उदर, कटि, प्रदेश में होती हुई इड़ा-पिंगला की मुख्य नाड़ियों (Sympathetic Columns) से सम्बन्ध करती है तथा इड़ा-पिंगला द्वारा सुषुम्नागत चक्रों से भी सम्बन्ध रखती है। सम्भवतः सुश्रुत वर्णित, हृदय कमल इसी प्राण, अपान, समान की स्वतन्त्र नाड़ी से सम्बद्ध होना चाहिये। किन्तु "वह अधोमुख हो एवम् इसका निमीलन उन्मीलन भी होता है।" इसका प्रमाण प्राप्य नहीं। तथापि मुख्य केन्द्र मस्तिष्क मूर्धास्थान ही माना जायेगा। क्योंकि ऐतरेय उपनिषद् कहता है "स एतमेव सीमानं विदार्य तया द्वारा प्रपद्यत। सैषा विद्दतिर्नाम द्वास्तदेतन्नान्दनम् ?" सेन्द्रिय शरीर पूर्ण बनाकर ब्रह्म ने मूर्धास्थान से उसमें प्रवेश किया एवं समग्र इन्द्रियों व शरीर को अनुप्राणित किया। विदीर्ण करने के कारण वह स्थान विद्दित कहलाता है; आनन्द निकेतन ब्रह्म द्वार यही है अतएव ब्रह्मरन्ध्र भी कहना चाहिये।

वहीं चिति शक्ति का योगियों को साक्षात्कार होता है। यही प्रणवकला है—"अर्द्ध मात्रा स्थिता नित्या यानुच्चार्या विशेषतः" (अनुच्चता ही अनुच्चार्या का तात्पर्य है) का भी रहस्य है। बिन्दु (प्रणव) का स्थान ललाट का अग्रभाग माना है जहाँ जीवात्मा सूक्ष्म-रूप से निवास करता है। जैसा कि कहा है— "भाले बिन्दुमयी शक्तिः ललाटस्था परात्मकेे। बिन्दुमध्ये च जीवात्मा सूक्ष्म रूपेण वर्तते हृदये स्थूल रूपेण मध्यमेन तु मध्यमे।"

सम्भवतः सुश्रुत का आशय इसी स्थूल रूप से हो। अरुणाचल के परम सन्त योगी श्री रमण महर्षि की प्रक्रिया के अनुसार हृदय—

अहंवृत्तिः समस्तानां, वृत्तीनां मूलमुच्यते।
निर्गच्छति यतोऽहंधीर्हृ दयं तत्समासतः॥
अन्यदेव ततो रक्तपिण्डाद् हृदय मुच्यते।
अयं हृदिति वृत्या तदात्मनो रूपमीरितम्॥
तस्य दक्षिणतो धाम हृत्पीठे नैव वामतः।
तस्मात्प्रवहति ज्योतिः सहस्रारंसुषुम्नया॥

इसके अनुसार हृद-अयम (आत्मा) हृदयम्। इस व्युत्पत्ति के द्वारा हृदय-आत्मा का स्वरूप है, वक्ष में दक्षिण की ओर स्थित है। यह अष्टदल कमल सदृश है, अनाहत अधोमुख चक्र से पृथक, रक्त पिण्ड से भी अन्य है, जहाँ से ज्योति प्रवाह ऊपर सुषुम्ना में होता हुआ सहस्रार में आता है। यहाँ उल्लेखनीय बात यह है कि महर्षि रमण हृदय को अहंवृत्ति का उदय स्थान मानते हैं। अहंवृत्ति (Egoism) ही समस्त वृत्तियों का मूल है। यह हृदय दक्षिण में है अतः इसका सम्बन्ध उपर्युक्त विश्वोदरी नाड़ी (Vagus-Nerve) से माना जा सकता है। साथ ही

यह चक्र सुषुम्नागत षट्चक्रों से पृथक् है तथापि इसका सुषुम्ना से पूरा-पूरा सम्बन्ध है। इसे संवित् कमल की संज्ञा दी गई है।

छान्दोग्य उपनिषद् का भी यही अभिमत है। "सवाएष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तं हृद्ययमिति तस्माद्हृदयमहरहर्वा एवं वित्स्वर्गं लोकमेति।" यहाँ इन हृदय की नाड़ियों में पिंगल, शुक्ल, नील, पीत एवम् लोहितवर्ण का अजस्र प्रवाहमान रहता है ऐसा माना गया है। इनकी संख्या एक शत कही गई है। इन्हीं में से एक नाड़ी मूर्धा-स्थान सहस्रार की ओर जाती है। इन नाड़ियों का आदित्य की रश्मियों से सम्बन्ध है। इन्हीं नाड़ियों में पुरुष का प्रवेश प्रवाह सुषुप्ति अवस्था में माना गया है। अतः पुरीतित नाड़ी नहीं मानना चाहिए जैसा कि शंकराचार्य ने "पुरीतदिति हृदय परिवेष्टन मुच्यते" कहकर माना है। "तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानाति आसु तदा नाड़ीषु सृप्तो भवति तेन कश्चन पाप्मा स्पृशति तेजसा हि तदा सम्पन्नो भवति।"

"शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।" यहाँ शंकराचार्य का "यदिदमस्मिन्ब्रह्म पुरं दहरं पुण्डरीकं वेश्मदहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः" है।

यदि उक्त प्रकार से वर्णित इस युग के परम योगी श्री रमण महर्षि तथा शंकराचार्य आदि से समर्थित औपनिषद् हृदय को ही आचार्य सुश्रुत द्वारा वर्णित हृदय माने तब भी "अधोमुख-पुण्डरीक सदृशता तथा निमीलन उन्मीलन" की सर्वथा असंगति हो जायेगी। क्योंकि किसी भी आचार्य या उपनिषद् ने ऐसा नहीं माना है। ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य सुश्रुत वेद, दर्शन, उपनिषद्, तन्त्र योगियों के इस गहन चक्र-जाल में फंसकर निकल नहीं पाये। उपनिषदों ने इस हृदय का वर्णन प्रायः शयन के सन्दर्भ में ही किया है जैसा कि कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् से ज्ञात होता है—इन हृदय नाड़ियों को हिता भी कहा गया है। हिता नाम ह्यस्य नाड्यो हृदयात्पुरीततमभिप्रतन्वन्ति तद्यथा सहस्रधा केशो विपाटित स्तावदण्व्यः पिङ्गलस्याणिम्ना तिष्ठन्ति। शुक्लस्य, कृष्णस्य, पीतस्य, लोहितस्येति तासु तदा भवति।" इसलिए सुश्रुत ने भी इस सन्दर्भ में निद्रा का वर्णन किया है। अच्छा होता यदि आचार्य सुश्रुत इस विषय का स्पष्ट एवम् विस्तृत वर्णन करते किन्तु उन्होंने इस जटिल प्रश्न का एक श्लोक मात्र में वर्णन कर पलायनवादी प्रवृत्ति का आश्रयण किया। हो सकता है सुश्रुत जैसे महान् शल्य-शास्त्री को वेदान्तों में वर्णित उक्त हृदय की व्याख्या समग्र अंशों में मान्य न हो किन्तु आज इस विषय में जबकि उल्लेख अति संक्षिप्त है "इदमित्थं" रूप से कैसे कुछ कहा जा सकता है। वेद, उपनिषद्, तन्त्र के रहस्य अति जटिल हैं, उनमें सूक्ष्म विज्ञान भरा पड़ा है जिसे भौतिक विज्ञान नहीं पा सकता किन्तु उनका उद्देश्य भूतवाद से ऊपर उठकर आत्मा की ओर जाना था जहाँ किसी वाद के विवाद की कोई सत्ता नहीं, केवल शक्ति तत्त्व ही सत् रूप से जहाँ वर्तमान है। वैसे विज्ञान के अनुसार वैदिक प्रक्रिया की व्याख्या पूर्णतः सम्भव है। तदनुसार ही चिति शक्ति (Consciousness) का केन्द्र सहस्रार है जहाँ से मनरूपी चन्द्र चेतना ग्रहण करता है एवं प्राण रूप सूर्य सम्पूर्ण शरीर को अनुप्राणित चेतना प्रवाह से युक्त करता है। ये दोनों चिति शक्ति के Negative व Positive स्रोत (Current) के समान हैं। इन दोनों

का प्रारम्भ एवम् अवसान वहीं होता है अतः प्रणव की नित्या कला भी वहीं मानी गई है। आत्मा की स्थिति सहस्रार में मानने पर ही आत्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से औषधियाँ, औषधियों से अन्न, अन्न से पुरुष, अतः यह शरीर पुरुष अन्न रसमय है, यह सृष्टि प्रक्रिया जो आयुर्वेद को भी मान्य है, संगत होती है क्योंकि मूलाधार (गुदा) पृथ्वी, स्वाधिष्ठान (उपस्थ), जल तत्व, मणिपुर (नाभि) अग्नितत्व, अनाहत (हृदय) वायु, विशुद्ध (कण्ठ) आकाश, आज्ञा (भ्रूमध्य-मनश्चक्र) तदुपरि सहस्रार (मूर्धास्थान) आत्मा का।

अन्न रसमय पुरुष है अतएव वह भूतात्मा है। विज्ञान भी प्रोटोप्लाज्म रूप रस को जीव कहता है, उसमें कोई आपत्ति नहीं। वह अन्न से बनता है। उपनिषदों में प्राणशक्ति रूप माना है। वह सूक्ष्म शक्ति रसरूप है, अन्न उसका स्थूल वाहक है। उपनिषदों में भूतात्मा एवम् परमात्मा का पृथक-पृथक वर्णन मिलता है। आचार्य चरक एवम् सुश्रुत ने उसे यथावत स्वीकार किया है। "पञ्च-तन्मात्रा भूत शब्देनोच्यन्तेऽथ पञ्चमहा-भूतानि भूत शब्देनोच्यन्ते। तेषां सत्समुदय तच्छरीर मित्युक्तं यत्शरीर खलु तान शरीर इत्युक्तं स भूतात्मा।" शारीर पुरुष को यहाँ कर्ता तथा आत्मपुरुष को कारयिता कहा है।—"यः कर्ता सांख्य वै भूतात्मा करणैः कारयितान्तः पुरुषः। अथ यथाऽग्निनाऽय-स्पिण्डोऽभ्यो वाऽभिभूतः कर्तृभिर्हन्यमानो नानात्वं उपैति एवम् वाव खल्वसौ भूतात्मा-अन्तः पुरुषेणाभिभूतो गुणैश्चैव मानोनानात्व मुपैति। चतुर्जालं चतुर्दशविध चतुरशीतिधा परिणतं भूतगणमेतद्वै नानात्वस्य रूपम्।" पुरुष नानत्व की इससे श्रेष्ठ व्याख्या प्राप्त होना अति कठिन है। यह चेतना वायु रूप है तथा शरीर में सर्वत्र संचरण करता है। "स वायुरिवात्मानं कृत्वाऽभ्यन्तरं प्राविशत्।" उस पुरुष ने अपने पाँच विभाग किये—"स एकोनाशकत्स पञ्चधात्मानं विभज्योच्यते यः प्राणोऽपानः समानः उदानो व्यान इति।" चरक सुश्रुत ने भूतात्मा के सिद्धान्त को उपनिषदों से ही लिया है। योगी लोग इसी-लिये प्राणशक्ति पर ही ध्यान केन्द्रित करते हैं उसे हृदय से ब्रह्म रन्ध्रस्थ आत्मा से मिला देते हैं तब समरस्त्व होता है। शक्ति ही इस जगत् में मुख्य वास्तविक तत्व है। शक्ति-मान् उससे अभिन्न ही माना गया है। जड़-शक्ति को ही, जिसे विज्ञान के अनुसार (Cosmic energy), और सांख्य के अनु-सार प्रकृति कहना चाहिये जिसे वेदों में अव्यक्त अराट् कहकर, सत्रूप समग्र सृष्टि का कारण माना गया है। (Electrons एवं Protons) इसी सजग शक्ति का अनुपरि-णाम (granulation) है। यह शक्ति ईश्वर की संकल्पात्मिका शक्ति का परिणाम है। कहा है "असतः (अव्यक्त से) सद् (व्यक्त) अजायत।" ऋग्वेद में इसी प्रक्रिया को निम्न प्रकार से वर्णित किया। "यद् वा अदः सलिले सुसंरब्धा अतिष्ठत्। अत्रा वो नृत्य-तामिव तीव्रो रेणुरपायत॥" सृष्टि शक्ति यां सलिलाकार घनीभूत हो गयी, उनमें विक्षोभ हुआ वह एक प्रकार के वेगपूर्ण तीव्र

नर्तन के समान था। (जैसा कि परमाणु जो स्थूल जगत का कारण है, की रचना में (Nucleus) केन्द्रक स्थित Protons के चारों तरफ (छः) ६ स्तरों पर Electrons (विद्युदणु) घूमते हैं, जिससे रेणुभूत परमाणुओं का निर्माण हुआ।

वेदों के अनुसार भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यं को सृष्टि प्रक्रिया के ७ स्तर (ब्रह्माण्ड प्रक्रिया में) मानने चाहिये। पिण्ड प्रक्रिया में जैसा कि मुख्य विषय चल रहा था मूलाधार से सहस्रार पर्यन्त भूः, भुवः के क्रम से मानते हुए, सहस्रार को सत्य-लोक-मुख्य चिति शक्ति का स्थान मानना चाहिये। इनकी नाड़ियों का प्रसार ही एक प्रकार से शरीर है जिसमें सारे में ही प्राण-शक्ति प्रवाहित होती रहती है। आधुनिक विज्ञान अभी तक वेद-वेदान्त और योग-दर्शन की सूक्ष्मता एवम् ऊँचाई को नहीं छू पाया है, क्योंकि उनका पर्यवसान अभी तक भौतिक शक्ति एवम् मानसिक शक्ति पर्यन्त ही है। Einstein के अनुसार भूत Matter शक्ति में परिणत हो जाता है या शक्ति भूत (Matter) में। किन्तु सब शक्तियों का मूल ब्रह्म, आदि शक्ति है। वेदान्त सृष्टि प्रक्रिया में विज्ञान एवम् उसके तत्वों आदि का अन्तर्भाव हो जाता है। योगदर्शनकार ने समस्त भूत एवम् भूत शक्ति (Kinetic & Static) परिपूर्ण विश्व का रहस्य एक सूत्र में ही भर कर छोड़ दिया, जिसमें विज्ञान निरन्तर उलझा है और उलझा रहेगा—

"प्रकाश क्रियास्थिति शीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगा पवर्गार्थं दृश्यम्।" ★

गो-सेवा

जननी जनकर दूध पिलाती, केवल साल छमाहीभर।
गोमाता पय-सुधा पिलाती, रक्षा करती जीवनभर॥

गोमाता एक आश्चर्यजनक रसायनशाला है। समस्त दुग्धधारी चतुष्पाद जीवों में गोमाता ही, एक ऐसी है, जिसकी आंत १८० फुट लम्बी होती है। इसकी विशेषता यह है कि जो चारा चबाती है, उससे जो दुग्ध निर्माण होता है वह माता के दूध से भी बढ़कर है।

जिस राष्ट्र की भौतिक स्वतन्त्रता के साथ मनोमय-विज्ञानमय शरीर की स्वतन्त्रता का पलायन हो जाता है, जिस राष्ट्र की अस्मिता, गौरव, सभ्यता एवं संस्कृति के संरक्षक शास्त्रों एवं पूर्वजों के इतिहासों पर अनादर एवं उपेक्षा का भाव हो जाता है, उस राष्ट्र की आत्मा मृतप्राय हो जाती है। आज हमारा सनातन गौरवशाली भारत देश इसी संक्रामक स्थिति से गुजर रहा है। यह धर्म-निरपेक्षता की देन है। अपने देश में जब धर्म राष्ट्र की आदर दृष्टि का केन्द्र बिन्दु था, तब उसके अपमानित होने पर प्रत्येक श्रेणी के स्त्री-पुरुष का रक्त खौल उठता था और एकजुट होकर सब लोग अनादर करने वालों को मुँह-तोड़ उत्तर दे देते थे, पर विडम्बना है कि आज ऐसा नहीं हो पा रहा है। हमारे राष्ट्र में आज भयावह परिस्थिति है। इस विषम परिस्थिति में गोपालन किस प्रकार हो स्वयं एक जटिल समस्या है। शादी-विवाह में लाखों रुपये का सड़कों पर अपव्यय करके हम अपना बड़प्पन प्रदर्शन करने में नहीं हिचकिचाते, क्या यही द्रव्य एकत्र कर गोमाताओं के लिये गोशालाएँ नहीं खोली जा सकतीं?

भुक्ति की इच्छा वालों को माया-जाल से परे रहना चाहिये

श्री नारायण दत्त शास्त्री (से० नि० जा० नि० अ०)
सालवन (करनाल)

मुमुक्ष (आत्म सुख) के सामने मायाविक सुख तुच्छ और असत्य है। मुमुक्षुओं अर्थात् मोक्ष की इच्छा वालों को इन्द्रलोक की इच्छा नहीं होती। इन्द्र का सुख मायाविक है। जब भी कोई महान तपस्वी तप करता है तभी इन्द्र को अपने पद से भ्रष्ट होने की चिन्ता सताने लगती है। एक समय त्वष्टा-पुत्र त्रिशिरा को मारने से इन्द्र को भारी दोष लगा। तब दूसरे पुत्र वृत्रासुर से इन्द्र का युद्ध हुआ। देवताओं के बल ने असुरों के आगे काम न किया, वृत्रासुर इन्द्र को निगल गया, इन्द्र वृत्रासुर के उदर रूपी जेलखाने में बन्द होकर भयंकर कष्ट पाने लगा। कुछ समय पश्चात् वृत्रासुर को जम्भाई आई और उस समय इन्द्र निकलकर भाग गया तब इन्द्र और देवता मिलकर विष्णु भगवान की शरण में गये और उनकी इच्छानुसार वृत्रासुर से सन्धि की। इन्द्र को परवशतावश सन्धि करनी पड़ी परन्तु उसके हृदय में कपट था, इसलिये समय आने पर सन्धि भंग करने का पापरूपी अदृष्ट सूक्ष्म बीज इन्द्र में जमा रहा। एक दिन वृत्रासुर सन्ध्या समय समुद्र तट पर टहल रहा था, इन्द्र ने उचित अवसर देखकर वज्र के ऊपर समुद्रफेन (झाग) चढ़ाकर विष्णु भगवान का स्मरण कर विष्णु शक्ति से उसका सिर काट गिराया। इस प्रकार का कपट करने से पाप का जो अदृष्ट सूक्ष्म बीज था वह दृढ़ हुआ और पक्व होकर फल देने को प्रवृत्त हुआ, तब इन्द्र घबड़ाकर भीतर ही भीतर जलने लगा। किसी तरह भी शान्ति न पाकर वह वहाँ से भागकर एक अरण्ड के पीछे जल में जाकर छिप गया, जहाँ वरुण की प्रेरणा से उसने अश्वमेध यज्ञ किया।

इन्द्र के चले जाने से इन्द्रासन खाली था। बिना राजा के प्रजा को अशान्त देख सब देवता और ऋषियों ने मिलकर राजा नहुष से इन्द्र बनने की प्रार्थना की। राजा नहुष शुभ आचरण वाला था। उसका पुण्य पक्व होकर फल देने योग्य हो गया था। उसने देवताओं और ऋषियों से कहा मैं इन्द्र बनने योग्य नहीं हूँ, कारण मैं निर्बल हूँ। यह सुन-कर देवताओं और ऋषियों ने कहा—"हम सब अपना तेज, बल भी आपको देते हैं उससे आप बलिष्ठ हो जायेंगे।" इस प्रकार समझा-कर राजा नहुष को देवताओं का राजा इन्द्र बना दिया। नहुष स्वर्ग में राज्य करने लगा। सब देवता उसके दरबार में हाजिरी देने लगे परन्तु शचि (इन्द्राणी) उसके पास नहीं गयी, नहुष ने भरे दरबार में कहा—'हे देवताओ! मैं आपका राजा हूँ तब मैं शचि का भी मालिक हुआ, इसलिए उसको भी मेरे अधीन होना चाहिये।" इतना सुनकर देवता चुप बैठे रहे, किसी ने कोई उत्तर नहीं दिया। जब शचि को इस बात की खबर लगी, तब उसने देवगुरु बृहस्पति जी से विनयपूर्वक कहा—"महाराज! नहुष मुझे अपनी पत्नी बनाना चाहता है और आपने मुझे पतिव्रता रहने

का वरदान दिया है कि तू पतिव्रता रहेगी और कभी विधवा न होगी। आप अपने वरदान को सत्य कीजिये।" बृहस्पति जी ने आश्वासन देकर कहा—"देवी! घबराओ मत। मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा और इन्द्र को भी शीघ्र ही बुलवा दूँगा।" राजा नहुष को भी यह समाचार मिल गया कि बृहस्पति जी ने शचि को मेरे पास आने से रोक दिया है। यद्यपि नहुष धर्मात्मा था तो भी ऐश्वर्य प्राप्त होने से अभिमान के दोष से वह दूषित हो गया था। प्रथम उसने शचि के संयोग की इच्छा की तब दुष्ट सूक्ष्म भाव उत्पन्न हुआ। फिर उसकी कामना में विघ्न डालने के कारण बृहस्पति जी का तिरस्कार स्थूलता को प्राप्त होकर दुष्टता को प्राप्त होने लगा। नहुष को बृहस्पतिजी के ऊपर क्रोधित देखकर देवताओं और ऋषियों ने उसे क्रोध से रोकते हुए कहा—हे राजन्! आपका क्रोध अनुचित है। दूसरे की स्त्री को कामवासना से देखना बुरा है। शचि पतिव्रता नारी है। जिन्होंने पतिव्रता नारी को भ्रष्ट करना चाहा उन्होंने पापिष्ट होकर अपना नाम बदनाम किया है। आप धर्मात्मा होकर ऐसा न सोचिये। इन वाक्यों से नहुष क्रोधित होकर बोला, क्यों जी गौतम ऋषि की नारी अहिल्या इन्द्र के लिये पराई नहीं थी। गौतम के जीतेजी कपट करके इन्द्र ने उसे भ्रष्ट किया या नहीं। आपने उसे क्यों नहीं रोका? आप लोग व्यर्थ मेरी अवज्ञा कर रहे हैं। मैं राजा हूँ मेरी सहायता करना तुम्हारा कर्त्तव्य है।

इस प्रकार की बातें सुनकर सब देवता चुप हो गये। उनमें से एक ने कहा—हम शचि के पास जाते हैं और उसे समझाने का प्रयत्न करते हैं। ऐसा कहकर देवता लोग बृहस्पतिजी से जाकर बोले—हे गुरुदेव! हमने नहुष को अनेक प्रकार से समझाया परन्तु वह अपनी धुन के आगे किसी की एक नहीं सुनता। सब के कल्याण के लिये आप शचि को ही समझाइये कि वह नहुष को अपना पति मानकर उसके साथ सम्बन्ध स्थापित करले या आप कोई दूसरा प्रयत्न करें। राजा और प्रजा का मन मिले रहने से ही शान्ति बनी रहती है। बृहस्पति जी ने देवताओं को समझाकर शान्त किया और शचि के पास जाकर बोले! तू नहुष के पास जाकर कुछ समय माँग ले, उस समय तक कोई न कोई विघ्न उपस्थित हो जावेगा।

बृहस्पति जी के चले जाने के पश्चात् नहुष वहाँ ही आ पहुँचा। तब शचि ने विनयपूर्वक उससे कहा—हे राजन्! मैं एक पति के होते हुए दूसरा पति नहीं कर सकती, इसलिये प्रथम मैं इन्द्र की खोज करा लूं, अगर वह जीवित नहीं मिले तो मैं आपकी पत्नी बन जाऊँगी। आप मुझे कम से कम ११ दिन का समय दें। अगर इतने समय में इन्द्र का पता न लगा तो आपको मैं अपना पति स्वीकार कर लूंगी। यह बात नहुष ने मान ली। उसने सोचा कि इन्द्र ब्रह्म हत्यारा हो गया है, अब वह इन्द्र नहीं रह सकता। अगर वह जीवित भी होगा तो मैं उसे मार डालूँगा। शचि ने सन्देह विनाशी उपश्रुति देवी की आराधना की, तब देवी ने प्रगट होकर शचि से कहा तुम हमारे साथ चलो। ऐसा कहकर देवी शचि को हिमालय के उस पार उत्तरकोण में ले गई जहाँ सरोवर के बीच द्वीप में एक तालाब था जो सौ योजन लम्बा था और उसमें कमल खिल रहे थे। सूत के समान बारीक रूप धारण कर इन्द्र वहाँ रह रहा था।

देवी ने शचि को इन्द्र दिखलाया और इन्द्र

से कहा – आप वहाँ पहुँचकर नहुष को स्वर्ग से निकालो। इन्द्र ने कहा –वह ऋषियों की आहुति पाकर बहुत बलिष्ट हो गया है। यह समय लड़ने का नहीं है। मैं युद्ध करके उसे जीत नहीं सकूँगा। शचि का माँगा हुआ समय जब समाप्त हो जावे तो उसे नहुष से कहना चाहिए कि सब प्रकार के वाहन मैंने देखे हैं आप इन्द्र हो गए हैं इसलिए किसी आश्चर्य-युक्त वाहन पर चढ़कर मेरे पास आइये तभी मैं आपको अपना पति बनाऊँगी। वाहन के पशु दिव्यरूपधारी हृष्टपुष्ट ब्रह्मज्ञानी होने चाहिए या आप ऋषि मुनियों के कन्धों पर रखी हुई पालकी में बैठकर मेरे निकट आयें। इतनी वार्ता सुनकर देवी और शचि लौट आईं और इन्द्र के कहे अनुसार शचि ने नहुष से उप-रोक्त बातें कहीं। नहुष ने शचि की प्रार्थना स्वीकार करली और ऋषियों को पालकी में जोतकर और उसमें बैठकर इन्द्राणी के पास चला। पालकी में जुते हुए ऋषियों में अगस्त मुनि भी थे। परमहंस ऋषियों ने मेहनत का कार्य कभी नहीं किया था, वह कहारों जैसा कर्म कैसे कर सकते थे। फिर भी वह शान्तिपूर्वक पालकी उठाकर धीरे-धीरे चलने लगे। परन्तु राजा नहुष को शचि से मिलने की उत्सुकता प्रबल थी, इसीलिये उसने ऋषियों को शीघ्र चलने के लिये कहा। ऋषि अपने हिसाब से शीघ्र ही चल रहे थे। जब ऋषि लोगों को धीमी चाल से चलते देखा तो उसे भारी क्रोध आया और उसने अगस्त मुनि को लात मारकर सर्प-सर्प तेज चलने को कहा। अगस्त मुनि शान्त थे परन्तु नहुष का क्रोध उनमें प्रवेश कर और प्रति-ध्वनिरूप क्रोध उबलकर निकला। अगस्त मुनि ने उसे शाप दिया कि तू सर्प होकर धरती पर गिर, तुझे दस हजार वर्ष पीछे स्वर्ग मिलेगा। नहुष के पाप संस्कार जो स्थूलता को प्राप्त हो गए थे वह मुनि के लात मारने के दोष से पूर्ण होकर पक गए और फल देने में प्रवृत्त हुए। इस कारण राजा नहुष सर्प होकर धरती पर गिर पड़ा। इन्द्र को जब यह खबर मिली तो वह जल में से निकल कर अपने घर पर जा आरूढ़ हुए।

इन्द्र ने त्रिशिरा को मारकर जो पाप ग्रहण किया उसका पुण्य प्रबल होने के कारण सूक्ष्म भाव में रहा। जब दूसरी बार वृत्रासुर से युद्ध के लिए वह गया तो पाप के दोष के कारण हार गया। फिर छल द्वारा सन्धि करने के कारण उसके पाप में वृद्धि हुई, फिर विश्वास के कारण अधिक वृद्धि होने से सब पाप पक कर फल देने को तत्पर हुए। और इन्द्र को पाप की जलन दूर करने के कारण जल में प्रवेश करना पड़ा। राजा नहुष शुभ कार्य करने वाला था, जब उसका पुण्य फल देने को तत्पर हुआ तब निर्बल होते हुए भी ऋषि मुनियों की शक्ति से इन्द्र हुआ, यहाँ तक उसके शुभ कर्म थे। ऐश्वर्य प्राप्त होने से पाप संस्कार बढ़ने लगे। प्रथम परपत्नी की तरफ पाप दृष्टि फिर ऋषि मुनियों को तुच्छ समझना, दूसरे गुरु बृहस्पति का तिर-स्कार, तीसरे ऋषि मुनियों को पालकी में जोतना एवं चौथा अगस्त मुनि को लात मारना। पाप के घड़े का पूर्ण भर जाने के कारण नहुष को सर्प होना पड़ा।

गिरिराज गोवर्धन की उत्पत्ति तथा ब्रजमण्डल में आगमन

श्री सुरेश पौलस्त्य, सागवन (करनाल)

साक्षात् परिपूर्णतम भगवान श्रीकृष्ण जो असंख्य ब्रह्माण्डों के अधिपति गोलोक के नाथ और सब कुछ करने में समर्थ हैं, जब पृथ्वी का भार उतारने के लिए स्वयं इस भूतल पर पधारने लगे, तब उन जनार्दन देव ने अपनी प्राणवल्लभा राधा से कहा—प्रिये ! तुम मेरे वियोग से भयभीत रहती हो, अतः हे भीरु ! तुम भी भूतल पर चलो।

श्री राधा जी कहने लगीं कि हे प्राणनाथ ! जहां पर वृन्दावन नहीं है, जहां यह यमुना नदी नहीं है, जहां गोवर्धन नहीं है, वहां मेरे मन को सुख नहीं मिल सकता।

श्री राधाजी की यह बात सुनकर स्वयं श्री हरि ने अपने धाम से चौरासी कोस विस्तृत भूमि, गोवर्धन पर्वत और यमुना नदी को भूतल पर भेजा। उस समय चौरासी कोस वाली गोलोक की सर्वलोक वन्दिता भूमि चौबीस वनों के साथ यहां आयी। गोवर्धन पर्वत ने भारतवर्ष से पश्चिम दिशा में शाल्मली द्वीप के भीतर द्रोणाचल की पत्नी के गर्भ से जन्म लिया। सभी पर्वतों ने उसका पूजन किया तथा स्तुति की और सभी पर्वत कहने लगे कि भगवान श्रीकृष्ण चन्द्र के गोलोक धाम में तुम सुशोभित होते ही तुम्हीं गोवर्धन नाम से वृन्दावन में विराजते हो। इस समय तुम्हीं समस्त पर्वतों में गिरिराज हो। तुम गोवर्धन महाराज को हमारा नमस्कार है।

जब इस प्रकार सभी पर्वत स्तुति करने के बाद अपने-अपने स्थान पर चले गये, तभी से यह गिरि श्रेष्ठ गोवर्धन साक्षात् गिरिराज कहलाने लगा। एक समय श्रेष्ठ मुनि पुलस्त्यजी तीर्थयात्रा के लिए भूतल पर भ्रमण करने लगे। उन्होंने द्रोणाचल के पुत्र श्याम वर्ण वाले श्रेष्ठ पर्वत गोवर्धन को देखा, जिसके ऊपर माधवी लता के सुमन सुशोभित हो रहे थे। वहां के वृक्ष फलों से लदे हुए थे। निर्झरों के झर-झर शब्द वहां गूंज रहे थे। उस पर्वत पर बड़ी शान्ति विराज रही थी। सैकड़ों शिखरों से सुशोभित वह रत्नमय मनोहर शैल तपस्या करने के लिए उपयुक्त स्थान था। मुनिवर पुलस्त्य जी के मन में उस पर्वत को प्राप्त करने की इच्छा हुई। इसके लिए वे द्रोणाचल के समीप गये। द्रोणगिरि ने उनका पूजन किया तथा स्वागत सत्कार किया। श्री पुलस्त्य जी उस पर्वत से बोले कि—हे द्रोण ! तुम पर्वतों के स्वामी हो। समस्त देवता तुम्हारा समादर करते हैं। मैं काशी का निवासी मुनि हूं और तुम्हारे निकट याचक होकर आया हूं। तुम अपने पुत्र गोवर्धन को मुझे दे दो। यहां अन्य वस्तुओं से मेरा कोई प्रयोजन नहीं। भगवान विश्वेश्वर की महानगरी 'काशी' नाम से प्रसिद्ध है जहां मरण को प्राप्त हुआ पापी पुरुष भी तत्काल परम मोक्ष प्राप्त कर लेता है, जहां गंगा नदी प्राप्त होती है। तथा जहां साक्षात् विश्वनाथ

विराजमान हैं, मैं वहीं तुम्हारे पुत्र को स्थापित करूंगा जहाँ कोई दूसरा पर्वत नहीं है। लता बेलों और वृक्षों से व्याप्त जो तुम्हारा पुत्र गोवर्धन है उसके ऊपर रहकर मैं तपस्या करूंगा—ऐसी अभिलाषा मेरे मन में जागृत हुई है। पुलस्त्य जी की यह बात सुनकर द्रोणाचल की आँखों में आँसू भर आये तथा उसने कहा—

महामुने ! मैं पुत्र स्नेह से आकुल हूँ। यह पुत्र मुझे अत्यन्त प्रिय है। तथापि आपके शाप के भय से भयभीत होकर मैं इसे आपके हाथों में देता हूँ। फिर अपने पुत्र से कहा कि—हे पुत्र ! तुम मुनि के साथ कल्याणमय कर्मक्षेत्र भारतवर्ष में जाओ, जहाँ मनुष्य सत्कर्मों द्वारा धर्म, अर्थ और काम त्रिवर्ग सुख प्राप्त करते हैं तथा क्षणभर में मोक्ष भी पा लेते हैं। गोवर्धन ने कहा—महामुने ! मेरा शरीर आठ योजन लम्बा, दो योजन ऊँचा और पाँच योजन चौड़ा है। ऐसी दशा में आप मुझे किस प्रकार ले चलेंगे।

पुलस्त्य जी बोले—बेटा ! तुम मेरे हाथ पर बैठकर सुखपूर्वक चले चलो। जब तक काशी नहीं आ जाती तब तक मैं तुम्हें हाथ पर ही ढोये चलूँगा।

गोवर्धन ने कहा—मुनिवर ! मेरी एक प्रतिज्ञा है। आप जहाँ कहीं भी भूमि पर मुझे एक बार रख देंगे वहाँ की भूमि से मैं पुनः उत्थान नहीं करूंगा।

तब पुलस्त्य जी बोले—मैं इस शाल्मली द्वीप से लेकर भारत वर्ष के कोशल देश तक तुम्हें कहीं भी रास्ते में नहीं रखूंगा। यह मेरी प्रतिज्ञा है।

तदनन्तर वह महान् पर्वत पिता को प्रणाम करके मुनि की हथेली पर आरूढ़ हुआ। उस समय उसके नेत्रों में आँसू भर आये, उसे अपने दाहिने हाथ पर रखकर पुलस्त्य मुनि लोगों को अपना तेज दिखाते हुए धीरे-धीरे चले और ब्रजमण्डल में आ पहुँचे। गोवर्धन पर्वत को अपने पूर्वजन्म की बातों का स्मरण था, ब्रज में आने पर उसने मन में सोचा—यहाँ ब्रज में असंख्य ब्रह्माण्ड नायक साक्षात् परिपूर्णतम भगवान श्रीकृष्ण अवतार लेंगे और ग्वालबालों के साथ बाल लीला तथा कैशोर लीला करेंगे। इतना ही नहीं, वे श्री हरि यहाँ दान लीला और मान लीला भी करेंगे। अतः मुझे यहाँ से अन्यत्र नहीं जाना चाहिए। यह ब्रजभूमि और यह यमुना नदी गोलोक से यहाँ आयी है। श्री राधा जी के साथ श्रीकृष्ण जी का यहाँ आगमन होगा। उनका उत्तम दर्शन पाकर मैं कृतकृत्य हो जाऊँगा। मन ही मन ऐसा विचार करके गोवर्धन ने मुनि की हथेली पर अपने शरीर का भार बहुत अधिक बढ़ा दिया। उस समय तक मुनि अत्यधिक थक गये थे, उन्हें पहले कही हुई बात याद नहीं रही। भार से पीड़ित तो वे थे ही। उन्होंने पर्वत को हाथ से उतारकर ब्रजमण्डल में रख दिया और लघुशंका से निवृत्त होने के लिए चले गये। शौच क्रिया करके जल में स्नान करने के पश्चात् मुनिवर ने उत्तम पर्वत गोवर्धन से कहा—अब उठो। अधिक भार से सम्पन्न होने के कारण जब वह दोनों हाथों से नहीं उठा तो महामुनि पुलस्त्य जी ने उसे अपने तेज और बल से उठा लेने का प्रयास किया। मुनि ने स्नेह से भीगी वाणी द्वारा द्रोण नन्दन गिरिराज को ग्रहण करने का पूर्ण प्रयास किया किन्तु वह एक अंगुल भी टस से मस न हुआ।

(शेष पृष्ठ ३६ पर)

देव और असुर

श्री लालचन्द्र जी

[देवता और राक्षस मनुष्य ही हैं, भगवान कृष्ण ने १६वें अध्याय में देवों और असुरों के गुण कर्मों का विवेचन किया है। राक्षस अथवा असुर शब्द, भद्दे और भोंडे रूप में हो नहीं बल्कि वेश में भी हो सकते हैं। लेखक के मत से देखने पर प्रतीत होगा कि वर्तमान समय में पृथ्वी पर असुरों की ही प्रबलता है जबकि हम चाहते हैं पृथ्वी पर देवों का राज्य हो। —सम्पादक]

देव भी मनुष्य हैं और असुर भी मनुष्य हैं। देवों से जगत में दिव्य ऐश्वर्य, वैभव बढ़ता है और सर्व हित होता है। असुरों की इच्छा सदा केवल अपना ही ऐश्वर्य, वैभव बढ़ाने की होती है और उनकी बढ़ी हुई ऐश्वर्य शक्ति जगत में द्रोह, कलह और उपद्रव फैलाकर अन्ततः मनुष्यों में परस्पर युद्ध उत्पन्न करके जगत के विध्वंस का कारण बनती है। असुर साम्राज्यवादी होते हैं, ये केवल अपनी ही सत्ता चाहते हैं, और छल कपट, दम्भ, अत्याचार से सरल सीधे लोगों को पराधीन करके उनका हर प्रकार से शोषण करते हैं।

असुरों के प्रभाव से मनुष्य की कामना, लालसा में बदल जाती है। भावना का स्थान परस्पर की स्पर्धा ले लेती है और आपस में सत्कार, प्रेम और उदारता के स्थान पर ईर्ष्या, द्वेष और घृणा मनुष्यों के हृदय में बस जाते हैं। मानव-हृदय विलास-प्रिय हो जाता है और प्रेम की ओर रुचि घटते-घटते मनुष्य श्रेय से अलग-सा होने लगता है। असुरों के प्रभाव से साधारण जनों में मिथ्याचार, दिखावा, धोखा फैलता है और मनुष्यों की वृत्ति पापमयी, स्वार्थी और मलिन हो जाती है। असुर लोगों की शिक्षा, दीक्षा भी उन्हीं लोगों के अनुकूल हुआ करती है। वे शिक्षा मानवता के विकास को नहीं देते, बल्कि उनकी शिक्षा में कोरे आचार-विचारों की ही भरमार होती है। संक्षेपतः असुरों में हिंसक पशुओं की-सी वृत्ति अधिक और मानव स्वभाव के विकास का पर्याप्त अवसर न मिलने के कारण असुर-समाज में विलासिता का ही दौर दौरा रहता है। मदिरापान, मांस भक्षण आदि ही उन्हें रुचते हैं और पाप आदि की भरमार के कारण उनका स्वभाव चञ्चल तथा क्रूर होता है। उनके प्रेम में व्यभिचार, बर्ताव में कपट, व्यवहार में छल तथा आपस में राग रहता है। आपस में भी ऊपरी ही प्रीति होती है जो स्वार्थपूर्ति तक टिकती है। उनका प्रेम वास्तव में मोह-युक्त अथवा आसक्ति से बंधा हुआ होता है। असुर स्वभाव वाले लोग प्रेम करना जानते ही नहीं, उनका प्रेम तो विलासिता तथा कामलिप्सा में ही समाप्त होता है। प्रेम तो दैवी गुण है। प्रेम से मनुष्य पवित्र होता है। समता दृढ़ होती है और हृदय में कर्त्तव्य करने की

स्फूर्ति बढ़ती है। सत्य और प्रेम असुर वृत्ति में नहीं दिखाई दिया करते, वह तो दिखावा है, वास्तविकता नहीं।

जो कोई भी स्वार्थी है, जो केवल अपने ही प्राणों का पोषण करना जानता है जिसे केवल अपनी ही फिक्र है, जिसका ध्येय केवल अपने शरीर की ही रक्षा है, वही असुर है। असुरत्व की भित्ति स्वार्थ है, देवत्व की नींव उदारता है। जिसका स्वार्थ सीमित है, मर्यादा के अन्दर है वह साधारण मानव है। जो अपने स्वार्थ का दमन करके परहित में लगे हैं, वे देव हैं। जो केवल अपनी ही स्वार्थपूर्ति में तत्पर हैं, वे असुर हैं।

असुर अभिमानी, क्रोधी और स्वार्थी होते हैं वे धर्म नहीं समझते और उनका आचरण सदा कुटिलता, हिंसा, निर्दयता और कठोरता का होता है। असुर लोगों में पाशविक-शक्ति विपुल होती है पर उनमें आत्मिक तेज और ओज नहीं होता। असुर लोग बलवान होते हुए भी सदा अपने अत्याचारों के कारण जनता से भयभीत रहते हैं। असुर लोग निर्लज्ज, लोभी, क्षुद्र, निष्ठुर, द्वेषी, ईर्ष्यालु, कामी तथा पापाचारी होते हैं। असुर लोगों में दर्प, निन्दा, क्रूरता, शठता, पशुता, कृपणता, मलिनता आदि दुर्गुण पाये जाते हैं। असुरों को समता नहीं भाती, वे विषमता में ही सुख मानते हैं। असुरों का मन्तव्य है कि वे तो ऐश्वर्यशाली हों और अन्य जन उनके अधीन रहकर उनकी आज्ञा पालन करते रहें। असुरों में आपस में तो ममता तथा राग और स्नेह होता है, पर अन्य लोगों के साथ उनका बर्ताव घमण्ड का होता है। अहङ्कार का विकृत रूप असुरों में ही देखा गया है असुर लोग बहुत डींगें मारते हैं अपनी कीर्ति के लिए बहुत उत्सुक रहते हैं, सदा यश की कामना करते रहते हैं पर उन्हें न तो सत्पुरुषों में यश ही मिलता है और न भले मनुष्य उनकी कीर्ति ही करते हैं। यश चाहते हुए भी असुर गण सदा अपयश के ही भागी होते हैं। असुरों की नीति में सरलता नहीं होती। धोखा, टेढ़ापन, और कुटिलता ही उनकी नीति के आधार होते हैं। असुर लोग जनता के हृदयों पर राज्य नहीं कर सकते, वे केवल शरीरों पर अत्याचार करके अपने अधिकारों का प्रदर्शन किया करते हैं। संसार की हानि सदा से असुरों के कारण ही हुई है।

असुरों में हठ बहुत देखा गया है, वे हारने पर भी ढीठ बने रहते हैं। वृथा बकवास करना और डींगें मारना उनका मुख्य लक्षण है। अपनी डींग मारना उनकी आदत होती है। उनमें दम, दान और दया नहीं होती। उनमें वैर-वृत्ति, कृपणता, वैर-भाव, क्रूरता आदि दोष देखे गये हैं, असुरों के भाषण कटु, उनकी भाषा कठोर, उनकी जीवन-चर्या दम्भ से भरी होती है। असुर लोग प्रायः साधारण लोगों में भले से बने रहकर उन्हें ठगा करते हैं और अपना स्वार्थ पूरा किया करते हैं। संक्षेपतः असुरों में सारे लक्षण रजोगुण के पाये जाते हैं, काम और क्रोध, जिनकी उत्पत्ति ही रजोगुण से कही गई है, असुरों में स्पष्ट दीखते हैं। रजोगुण के मूर्तिमान स्वरूप असुर लोग होते हैं। इतिहास साक्षी है कि असुरों के द्वारा जगत का कल्याण कभी नहीं हुआ, सर्वहित उनका ध्येय ही नहीं होता, असुर लोग सदा स्वार्थी होते हैं और यह अनुभव सिद्ध बात है कि स्वार्थ यदि सीमित न रहे तो सदा विनाश का कारण होता है।

देवमनुष्य असुरों से विपरीत गुण वाले

होते हैं। देवों में परस्पर प्रेम, मेल-मिलाप, तथा समता के भाव विशेष होते हैं। देव मनुष्यों में अन्यता का भाव नहीं होता, वे सबसे अनन्यता का, विमल प्रेम का व्यवहार करते हैं, और इसी कारण सदा अभय रहते हैं। देव मनुष्यों का अन्तःकरण शुद्ध रहता है। उनमें ऋजुता तथा सरलता होती है। अहिंसा, सत्य, शान्ति तेजस्विता, स्थिरता, दृढ़ता, धैर्य, ज्ञान, दक्षता, उदारता आदि सद्गुण देव मनुष्यों में विकसित होते रहते हैं। देव मनुष्य प्रियवादी गम्भीर, दयावान, संयमी, सदाचारी और त्यागी देखे गये हैं। यज्ञ की भावना देव मनुष्यों में ही चरितार्थ होती है। देवों का अन्तःकरण शुद्ध होता है। शुद्ध पवित्र अन्तःकरण में ही ज्ञानयोग की व्यवस्थिति होती है। देव मनुष्य सदा अभय रहते हैं क्योंकि वे किसी की हानि नहीं करते, सब का हित चाहते और करते रहते हैं और जनता उनके लिए प्राण तक देना कर्तव्य समझती है। देव लोग सर्वप्रिय होते हैं। जो अधिकार बल से, शक्ति से, असुरों को नहीं मिलता, वह अधिकार देवों को उनके उदार चरित्र होने के कारण जनता उन्हें स्वयं भेंट करती है, वे जनता के हृदयों के राजा होते हैं। जनता के हृदय में उनका निवास होता है क्योंकि वे जनता के सुख-दुःख के साथी होते हैं। जनता उनका आदर करती है उनकी आज्ञा पालन करती है। देव मनुष्य निष्काम सेवा में ही अपनी तृप्ति और प्रसन्नता समझते हैं। वे लेने के स्थान पर देने में ही तत्पर रहते हैं। दर्प और दम्भ तो उन्हें छू भी नहीं सकते, वे सदा नम्र और सरल स्वभाव के ही होते हैं। देव मनुष्य नित्य आत्मपरीक्षण द्वारा अपने आपको ठीक-ठीक देखकर अपने दोष दूर करते रहते हैं। देवों में अन्दर बाहर की पवित्रता स्पष्ट झलकती है। देव लोग त्याग पूर्वक तथा सन्यासी रहकर सब भोग भोगते हैं। वे असुरों की भांति लोलुप तथा लम्पट नहीं होते। देव मनुष्यों की वृत्ति निश्चल, एकाग्र तथा स्थिर होती है, उनमें अभिमान नहीं होता, आत्म-सम्मान होता है। शक्तिशाली होते हुए भी वे नम्र देखे गये हैं। उदारता उनका एक विशेष लक्षण होता है, देव मनुष्यों में अन्य जनों को ठीक-ठीक पहचानने की क्षमता होती है इसलिए उनकी सफलता चिरस्थायी होती है, देव मनुष्यों में सत्वगुण प्रधान होता है। वे सदा प्रसन्नचित्त अपने कर्तव्यों को समझने वाले और समझबूझ कर कर्तव्य पालन करने वाले हुआ करते हैं। देवलोग सदा अपने वचन को निभाते हैं। वे अपनी प्रतिज्ञा का प्राणपन से पालन करते हैं। सत्यनिष्ठा उनके जीवन की विशेषता होती है, वे सदा कर्तव्यरत और कर्मफल त्यागी होते हैं, वे अपने आपको सात्विक दान तथा शास्त्रयुक्त भोग में व्यय करके सदा प्रफुल्लित रहते हैं। देव मनुष्यों को कभी चिन्ता, भय, शोक और रोग नहीं घेरते, वे सदा स्वस्थ और हृष्टपुष्ट होते हैं। उनका व्यक्तित्व आकर्षक होता है उनका शरीर सुन्दर तथा मन पवित्र होता है। वे सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम् के उपासक होते हैं। देव लोग जनार्दन पूजा के लिये विख्यात हैं। निष्काम जनसेवा में ही उन्हें प्रसन्नता मिलती है। देव-मनुष्यों में ही वास्तविक पुरुषार्थ देखा गया है, उन्हें आत्म-प्रसाद मिलता है। वे जीवन-संग्राम में विजयी होकर जीवन को खेल तथा संगीत के रूप में देखते हैं, और नित्य आनन्द-मग्न कर्तव्य में लगे रहते हैं।

★

★ गीता का सार-भूत श्लोक ★

❀ श्री रामचरण 'महेन्द्र'

[गीता का प्रत्येक श्लोक अपने स्थान पर परम सार-भूत अर्थ रखता है फिर भी रुचि के अनुसार विद्वानों ने किसी एक श्लोक को महत्त्व दिया है, लोकमान्य तिलक कर्मयोग को ही गीता का प्रतिपाद्य मानते थे। उन्होंने 'कर्मण्येवाऽधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥ (गीता २/४७)। इस श्लोक को गीता की चतुःसूत्री कहा है, योगी अरविन्द का जिन परिस्थितियों में आत्म-विकास हुआ है उनके कारण ही सम्भवतः उन्होंने—ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ तमेव शरणं गच्छ सर्व भावेन भारत। तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥

(गीता १८/६१-६२)

इन दो श्लोकों को ही सर्वोत्कृष्ट श्लोक कहा है। इसमें रुचि-वैचित्र्य ही कारण है।

—सम्पादक]

किसी भी ग्रन्थ के उपक्रम एवं उपसंहार में जो बात रहती है, जिस विषय को लेकर किसी पुस्तक को प्रारम्भ किया जाता है, उसी विषय को लेकर, समस्त सूत्रों को एक रज्जु में बाँधते हुए उसका उपसंहार कर दिया जाता है। प्रारम्भ तथा अन्त में ग्रन्थ का मुख्य तात्पर्य रहता है। हमें देखना चाहिए कि संसार की सर्वोत्तम कृति श्रीमद्भगवद्-गीता में किस उपक्रम का क्या उपसंहार है।

गीता का उपक्रम इस श्लोक से प्रतीत होता है—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥

—गीता २/११

अर्थात् हे अर्जुन! "तू शोक करने योग्य मनुष्यों के लिये शोक करता है और पण्डितों के से वचनों को कहता है परन्तु जिनके प्राण चले गये हैं, उनके लिए और जिनके प्राण नहीं गए हैं, उनके लिए भी पण्डित जन शोक नहीं करते।"

श्री भगवान् ने शोक नाश विषय लिया है। संसार की माया-मरीचिका में फँसे हुए प्राणी अशोच्य को चिन्ता का विषय बना रहे हैं जिसकी तनिक भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये, उसी में फँसकर व्यर्थ के चिन्ता जाल में ग्रसित हैं। विज्ञजन अस्थिर संसार के क्षणिक जंजाल से उपरत रहकर कदापि अशोच्य विषयों में नहीं फँसते। संसार में यदि सत्चित् आनन्दस्वरूप मनुष्य चिन्ता में ग्रसित रहे, तो उसकी बुद्धि आत्मा और जीवन का

ह्रास होना प्रारम्भ हो जायगा। अतः भगवान् कृष्ण ने शोक निवृत्ति के उद्देश्य से गीता के विश्वविश्रुत उपदेश को देना प्रारम्भ किया।

अब यह विचारना है कि गीता का सार-भूत श्लोक कौन-सा है। वह श्लोक ऐसा होना चाहिए जिसमें प्रारम्भिक विषय ही उपसंहार के रूप में एक रज्जु बद्ध सुश्रृङ्खलित कर दिया गया हो। विचार करने पर १८वें अध्याय में हमें शोक-निवृत्ति का उपसंहार निम्न श्लोक में उपलब्ध होता है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

—गीता १८/६६

अर्थात्, सर्व धर्मों को मुझ में त्याग कर तू केवल एक मुझ सर्व शक्तिमान सर्वाधार परमेश्वर की ही शरण में आ जा, मैं तुझे सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूंगा। तू शोक मत कर।

कवि श्री दिनेश ने उपरोक्त श्लोक का अनुवाद इस प्रकार किया है—

तज धर्म सारे एक मेरी ही शरण को प्राप्त हो।
मैं मुक्त पापों से करूंगा, तू न चिन्ता-व्याप्त हो॥

उपरोक्त श्लोक में गीता का उपसंहार हुआ है। अतः गीता का उपसंहार रूप होने के कारण यह श्लोक ही मुख्य सार-भूत होना चाहिए।

(पृष्ठ ३४ का शेष)

तब पुलस्त्य जी बोले—गिरि श्रेष्ठ! चलो-चलो, भार अधिक मत बढ़ाओ। मैं जान गया तुम रूठे हुए हो। शीघ्र बताओ तुम्हारा क्या अभिप्राय है।

गोवर्धन बोला—हे महामुने! इसमें मेरा दोष नहीं, आपने ही मुझे यहाँ स्थापित किया है। अब मैं यहाँ से नहीं उठूंगा। अपनी यह प्रतिज्ञा मैंने पहले ही प्रकट करदी थी।

यह सुनकर मुनि की सारी इन्द्रियाँ क्रोध से चञ्चल हो उठीं। उनके ओष्ठ फड़कने लगे। अपना सारा उद्यम व्यर्थ हो जाने के कारण उन्होंने द्रोण पुत्र को शाप दे दिया। पुलस्त्य मुनि बोले—हे पर्वत तू बड़ा ढीठ है। तूने मेरा मनोरथ पूर्ण नहीं किया। इसलिये तू प्रतिदिन तिल तिल भर क्षीण होता चला जा।

यों कहकर पुलस्त्य मुनि काशी चले गये। उसी दिन से यह गोवर्धन पर्वत प्रतिदिन तिल-तिल करके क्षीण होता चला आ रहा है। जब तक भागीरथी गङ्गा और गोवर्धन पर्वत इस भूतल पर विराजमान हैं, तब तक कलि का प्रभाव कदापि नहीं बढ़ेगा।

(अग्निपुराण से साभार)

आश्रम-समाचार :—

योग-साधन आश्रम ऋषिकेश का वार्षिक योग-सम्मेलन

गत वर्षों की भाँति इस वर्ष भी गंगा दशहरा के पवित्र अवसर पर योग साधन आश्रम ऋषिकेश में तीन दिवसीय योग सम्मेलन दिनाङ्क २६-५-६६ से २८-५-६६ तक बड़ी धूमधाम से मनाया गया। जिसमें भारत के कोने-कोने से पधारे हुए उच्चकोटि के योग साधक तथा प्रकाण्ड विद्वान सम्मिलित हुए।

दिनाङ्क २६-५-६६ को प्रातः ५ बजे प्रभातफेरी (शोभा यात्रा) के साथ उत्सव का श्री गणेश हुआ जो कि तीन दिन तक लगातार चलता रहा। जिससे आश्रम तथा उसके आस-पास का वातावरण योगमय बना रहा। ऐसा प्रतीत होता था कि मानो देवभूमि ऋषिकेश में गङ्गा की पावन धारा के साथ-साथ योग की गङ्गा भी बह रही हो।

झाँसी (उ० प्र०) से पधारे श्री कृष्णकान्त झा, श्रीमती आशारानी एवम् उनके सहयोगियों द्वारा प्रस्तुत चित्ताकर्षक प्रभु नाम संकीर्तन ने वातावरण को और भी अधिक सात्विक एवम् मनोहारी बना दिया था।

श्री सिद्धगुफा योग-प्रशिक्षण केन्द्र, लखनऊ के संचालक योगिराज श्री ओमप्रकाश पालीवाल, श्री सिद्ध गुफा सवाई (आगरा) से पधारे आचार्य ब्र० श्री दाऊलाल शर्मा, दिल्ली से आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा, नाहन (हि० प्र०) से श्री पूर्णचन्द्र पन्त, अम्बाला से श्री वीरेन्द्र स्वरूप तथा योग मन्दिर अलूपुर (पानीपत) से पधारे श्री सोमदत्त शर्मा ने अपने-अपने सारगर्भित एवम् विद्वतापूर्ण प्रवचनों में योग का वास्तविक स्वरूप, जीवन में योग की महत्ता, मोक्ष का साधन योग तथा सिद्धों का शक्तिपात एवम् योगसिद्धि आदि विषयों पर योगविद्या के सैद्धान्तिक एवम् क्रियात्मक पक्ष समझाये।

दिनाङ्क २७-५-६६ को सायंकालीन कार्यक्रम में आश्रम के ब्र० श्री बलराम शर्मा ने योगासनों का प्रदर्शन कर योगभक्तों का उत्साहवर्धन किया।

उत्सव के तीसरे दिन अर्थात् दिनाङ्क २८-५-६६ को प्रभु रामलाल जी महाराज के सामूहिक पूजन एवम् भण्डारे के साथ उत्सव का समापन हुआ।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इस आश्रम की स्थापना सन् १६२०-२१ में हिमालय के महान सिद्धयोगी योगेश्वर प्रभु श्री रामलालजी महाराज द्वारा की गई। आश्रम की स्थापना का उद्देश्य शक्तिपात-दीक्षा द्वारा संस्कारी जीवों को योग के चरम लक्ष्य समाधि तक पहुँचाना रहा है। ★

श्री गुरु-पूर्णिमा एवम् रुद्र यज्ञोत्सव, १९९६

सभी गुरुभाई-बहनों को सूचित करते हुए हर्ष हो रहा है कि हर वर्ष की भाँति इस वर्ष भी श्री गुरु-पूर्णिमा का उत्सव श्री सद्गुरुदेव जी की करुणा कृपा से श्री सिद्ध गुफा सवाई आश्रम में दिनांक ३० जुलाई १९९६, दिन मंगलवार को बड़ी धूमधाम से मनाया जायेगा। इसके दो दिन पश्चात् श्रावण कृष्ण द्वितीय/तृतीय दिनांक १ अगस्त, दिन गुरुवार सम्वत् २०५३ से रुद्र यज्ञ आरम्भ होगा। गंगा दशहरा पर्व पर 'ऋषिकेश योग-साधन आश्रम' के उत्सव १९९६ के अवसर पर विभिन्न स्थानों से आये हुए गुरुभाई-बहनों ने विचार-विमर्श कर अबकी बार इस यज्ञ को विभिन्न मण्डलों एवम् गुरुभाई-बहनों के सहयोग से २१ दिन तक चलाने का निश्चय किया गया है जो १ अगस्त से २१ अगस्त ९६ तक चलेगा, उसके पश्चात् पूर्णाहुति होगी।

जो भाई-बहन इन दिनों इस यज्ञानुष्ठान एवम् सेवा कार्य में रहना चाहेंगे उनकी यथोचित व्यवस्था का सुप्रबन्ध ब्रह्मचारी गणों के सब प्रकार के सहयोग से रहेगा। इसकी पूर्व सूचना यज्ञ व्यवस्थापकों को (प्राप्त होने पर) सुविधाजनक होगी।

अतः सभी भाई-बहनों एवम् मण्डलों के कार्यकर्त्ताओं से निवेदन है कि सभी भाई-बहन एवम् मण्डलों के प्रतिनिधि समय निकालकर श्री सिद्ध गुफा, सवाई आश्रम में पहुँचने का प्रयत्न करें एवम् उत्सव को सफलतापूर्वक मनाने हेतु अपनी सहर्ष सेवाओं, योगदान में सहयोग देकर पुण्य के भागी बनें।

उन करुणासागर जी की कृपा की कामना में :

निवेदक :

भुवनेन्द्र झा
१६८/४, सुधा-सदन
टूण्डरी रोड, टूण्डला-२८३२०४

मानिक चन्द्र शर्मा
बी-६५, बालाजी पुरम्
शाहगंज, आगरा।

जगदीश गर्ग
म० नं० ११-सैक्टर २७ ए,
चण्डीगढ़-१६००१९

SIDDHAYOGA Regd. No. L. AG. 008. JULY 1996

प्रेषक कार्यालय :—

सिद्ध योग

योग-सिद्धान्तों का प्रतिपादक
उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग-प्रशिक्षण केन्द्र सवाई (एलादपुर) आगरा।

PRINTED MATTER

Book-Post

श्री ....

....

....

....

— ब्रह्मात्मना स्थीयताम् —

प्राक्कर्म प्रविलाप्यतां चितिबलान्नाप्युत्तरैः श्लिष्यताम्।
प्रारब्धं त्विह भुज्यतामथ परः ब्रह्मात्मना स्थीयताम्॥

एकान्त स्थान में सुख पूर्वक बैठकर परमात्मा में चित्त को स्थिर करके, इस सब जगत को मिथ्या समझ कर ब्रह्ममय देखो। पूर्व कर्म का भोग करके बलपूर्वक चित्त का लय करो। जिसे करके कर्म का बन्धन न हो, इस प्रकार वर्तना चाहिए और प्रारब्ध का भोग करते हुए परब्रह्म के विषय में स्थिति रखना चाहिए।

(वेदान्त स्तोत्र संग्रह से)

प्रकाशक एवं मुद्रक—विनय गजानन शर्मा द्वारा कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, बदई कर्मा, ताजगंज, आगरा से मुद्रित एवं श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (आगरा) से प्रकाशित। फोन : 339426